संस्कृति

सत्यमेव जयते

अंक : 27

अर्द्धवार्षिक पत्रिका

भारत सरकार

संस्कृति मंत्रालय

संस्कृति

सांस्कृतिक विचारों की
प्रतिनिधि अर्द्धवार्षिक पत्रिका

सितम्बर, 2024

संरक्षक :
अरूनीश चावला, सचिव

मुख्य परामर्शदाता :
गुरमीत सिंह चावला, संयुक्त सचिव

सम्पादक :
आशिमा भारद्वाज, सहायक निदेशक

उप सम्पादक :
डॉ. ज्योत्स्ना शर्मा, वरिष्ठ अनुवाद अधिकारी

संपादन मंडल :
राजभाषा प्रभाग के समस्त पदधारी

मुख्य आवरण : **भगवान बिरसा मुंडा, हिमाचल प्रदेश की गद्दी जाति के पारंपरिक परिधान और झारखंड की आदिवासी संस्कृति**

अंतिम आवरण: असम के मोइदम

संपादकीय पता :
आशिमा भारद्वाज, सहायक निदेशक (राजभाषा)
कमरा सं. 104, सी-विंग, शास्त्री भवन,
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद रोड, नई दिल्ली-110001
☎ 91 011- 23383425
ई-मेल : dirol-culture@nic.in
hindicsl@gmail.com

(यह पत्रिका मंत्रालय की वेबसाइट : www.indiaculture.nic.in पर उपलब्ध है)

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001

संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उनसे मंत्रालय या संपादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके जिम्मेदार हैं।

गजेन्द्र सिंह शेखावत
संस्कृति मंत्री एवं पर्यटन मंत्री
भारत सरकार

सत्यमेव जयते

Gajendra Singh Shekhawat
Minister of Culture and Minister of Tourism
Government of India

संदेश

यह अत्यंत प्रसन्नता का विषय है कि संस्कृति मंत्रालय की अर्द्धवार्षिक "संस्कृति" पत्रिका के 27वें अंक का प्रकाशन किया जा रहा है। संस्कृति किसी भी राष्ट्र में रहने वाले लोगों की जीवनशैली और आचार-व्यवहार का दर्पण होती है। संस्कृति बहुआयामी है जिसे किसी परिभाषित सीमा में नहीं बांधा जा सकता। तथापि, इसे विविध मूर्त और अमूर्त कला रूपों, परंपराओं, रीति-रिवाजों, उत्सवों आदि के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है। विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृति से जुड़े ऐसे ही ज्ञात और कम ज्ञात आयामों पर अनेक विद्वानों के लेख संस्कृति पत्रिका के इस अंक में शामिल किए गए हैं।

"संस्कृति" पत्रिका का यह 27वां अंक हमारे सांस्कृतिक विवेचन और विचार-विमर्श का एक महत्वपूर्ण चरण सिद्ध होगा। यह अंक न केवल हमारी धरोहर को सहेजने में सहायक होगा, बल्कि नई सोच और विचारों को भी प्रस्तुत करने में सक्षम होगा।

मैं इस पत्रिका की सफलता की कामना करता हूं और पत्रिका के संपादकीय मंडल के सभी सदस्यों को बधाई देता हूं।

(गजेन्द्र सिंह शेखावत)

अरूनीश चावला
सचिव
ARUNISH CHAWLA
Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

भारतीय संस्कृति विश्व की उन प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है जो अब भी अपनी जीवंतता और वर्चस्व को कायम रखे हुए है। भारत के विशाल भू-क्षेत्र पर निवास करने वाले विभिन्न समुदायों के लोगों की अपनी भिन्न-भिन्न संस्कृतियां हैं जो मिलजुल कर भारत देश की सामासिक संस्कृति का सृजन करती हैं। जितनी विविधता यहां के लोगों के आचार-व्यवहार में है उतनी ही विविधता यहां के रीति-रिवाजों, परपंराओं, कलाओं, उत्सवों आदि में भी देखने को मिलती है।

संस्कृति पत्रिका इसी अनेकता के भाव को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास है जिसके माध्यम से देश के ओर-छोर में व्याप्त संस्कृति से जुड़े ज्ञात-अज्ञात पहलुओं को सभी के समक्ष लाया जा रहा है।

इस पत्रिका के 27वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी ओर से हार्दिक शुभकामनाएं।

(अरुनीश चावला)

गुरमीत सिंह चावला
संयुक्त सचिव
GURMEET SINGH CHAWLA
Joint Secretary

सत्यमेव जयते

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

भारतीय संस्कृति के अनेक महत्वपूर्ण आयाम हैं जिन्होंने समूचे विश्व में हमें सम्मान और आदर का पात्र बनाया है। इन आयामों में प्रमुखत: हमारे जीवन मूल्य जैसे कि, माता-पिता और गुरुजनों का आदर, अतिथि सत्कार, परोपकार, दान की प्रवृत्ति, पशु-पक्षी एवं पेड़-पौधों के प्रति संवेदनशीलता, सहनशीलता, प्राणीमात्र के प्रति करुणा का भाव और विश्व-बन्धुत्व की भावना इत्यादि शामिल हैं।

इसी विविधरूपी एवं बहुमुखी संस्कृति की झलक हमारी नृत्य शैलियों, संगीत, साहित्य, स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्रकला आदि में देखने को मिलती है। संस्कृति के इन सभी पहलुओं को संजोए, संस्कृति पत्रिका के 27वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी ओर से हार्दिक शुभकामनाएं।

(गुरमीत सिंह चावला)

संपादकीय

"संस्कृति की जड़ें हमारे अतीत में हैं लेकिन इसकी शाखाएं हमारे भविष्य की ओर बढ़ती हैं।"

- महात्मा गांधी

संस्कृति- इस शब्द को यदि हम कम से कम शब्दों में परिभाषित करने का प्रयास करें तो कहा जा सकता है कि संस्कृति समाज की सामासिक धरोहर का वह प्रतीक है जिसमें उस समाज के युग-युगान्तर से व्याप्त विश्वास, रीति-रिवाज, परंपराएं, मूल्य आदि समाहित होते हैं। समाज में रहने वाले लोगों के आचार-विचार और व्यवहार दर्पण रूपी हैं जिसमें उनकी संस्कृति की झलक दिखाई देती है। सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य सैंकड़ों वर्षों से जिस लोकाचार को अपनाता आ रहा है और उसके परिणामस्वरूप जो अनुभव उसे प्राप्त होते रहे हैं, वे अतीत की धरोहर के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपे जाते रहे हैं। यह कहना गलत नहीं होगा कि समाज में रहकर हम संस्कृति के जिन पहलुओं को आत्मसात करते हैं वे ही हमारे अस्तित्व की पहचान बन जाते हैं, फिर चाहे हम अपने देश में रहे या विदेश में, हम संस्कृति रूपी अपने उसी अस्तित्व से जाने जाते हैं।

हमारा सौभाग्य है कि हमने भारत भूमि पर जन्म लिया है क्योंकि यह बहु-सांस्कृतिक देश है। यहां के लोगों में आकाश-पाताल जैसी भिन्नता तो है लेकिन कहीं किसी छोर पर जाकर आकाश-पाताल भी मिल जाते हैं। यही सम्मिलन यहां की बहुरंगी संस्कृति की अनूठी पहचान है। संस्कृति पत्रिका इन्हीं वैविध्यपूर्ण पहलुओं के भिन्न-भिन्न मनकों को एक धागे में पिरोते हुए इनका कीर्तिगान करती है। इसी क्रम में संस्कृति पत्रिका का 27वां ई-अंक निकाला जा रहा है जिसमें देश के कोने-कोने से प्रबुद्ध और मनीषीजन ने देश में व्याप्त ऐसे अनेक पहलुओं को उजागर करने का प्रयास किया है जिनके बारे में लोगों को आमतौर पर जानकारी नहीं है। इस संस्करण में सम्मिलित आदिवासी संस्कृति और पहाड़ी संस्कृति से जुड़े अनूठे लेखक इसे और भी रोचक बनाते हैं।

संस्कृति के इन सभी पहलुओं को संजोए, संस्कृति पत्रिका के 27वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी ओर से हार्दिक शुभकामनाएं।

आशिमा

(आशिमा भारद्वाज)

उप-संपादकीय

आत्म जागृति और चेतना ही मनुष्य में विविधता में एकता देखने का सामर्थ्य प्रदान करती है। भारत में पुष्पित पल्लवित हुई संस्कृति इसी अंतस के रूपांतरण के द्वारा चेतना को जागृत करती है। अनादि काल से हमारे पूर्वजों द्वारा समाज के सुव्यवस्थित संचालन हेतु जो नियम और सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं वह आज भी उतने ही प्रासंगिक सिद्ध हो रहे हैं। इसी के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति ने स्वयं को सामासिक संस्कृति के रूप में स्थापित किया है। भारतीय संस्कृति की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत मूल रूप से आध्यात्मिकता और कर्मशीलता के सिद्धांत पर आधारित है।

संस्कृति पत्रिका का प्रस्तुत अंक इन सभी मूल तत्वों को स्वयं में समेटे हुए है। इस अंक में आदिवासी लोक जीवन में लोक कविताओं और प्राकृतिक शैली के संगीत व लोक मानव समाज के विभिन्न पहलुओं को स्पर्श करने का प्रयास किया गया है। साथ ही हिमाचल के लोकगीत 'श्रम गीत गंगी' और लोक जीवन को दर्शाती हिमाचली कहावतें, उत्तराखंड की कुमाऊनी होली, रामलीला के लोकनाट्य स्वरूप के साथ-साथ इसके वैश्विक स्वरूप को प्रस्तुत करने वाले विषयों पर अत्यंत रोचक और ज्ञानवर्धक लेख शामिल किए गए हैं।

पत्रिका के 27वें अंक को प्रबुद्ध पाठकों को समर्पित करते हुए मुझे हर्ष की अनुभूति हो रही है। यह अंक भारत की सामासिक संस्कृति की उत्कृष्ट छवि को हमारे मानसिक पटल पर अंकित करता है।

ज्योत्स्ना

(डॉ. ज्योत्स्ना शर्मा)

विषय क्रम

पृष्ठ संख्या

1. आदिवासी संस्कृति और पर्यावरण संरक्षण — 1-5
अंकुश्री

2. पूर्वोत्तर क्षेत्र की सांस्कृतिक परंपरा का केंद्र बिन्दु 'सत्रीय' संस्कृति — 6-10
स्वप्ना मण्डल

3. किराडू: खजुराहो का प्रतिरूप — 11-13
चन्द्रकान्ता शर्मा

4. शास्त्र से सर्जना तक छाया ऋतुराज वसन्त और वाग्देवी सरस्वती आओ निहारें, बनन में बागन में बगरयो बसंत है — 14-20
डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा

5. उत्तराखंड की कुमाँऊनी होली — 21-26
सीमा तोमर

6. लोक जीवन को दर्शाती हिमाचली कहावतें — 27-30
प्रवीण कुमार सहगल

7. हिमाचल- प्रदेश की गद्दी जनजाति के पारम्परिक परिधान : एक अवलोकन — 31-36
भरत सिंह

8. आदिवासी हिन्दी कविताओं में लोक जीवन और संस्कृति — 37-43
डॉ. दिनेश अहिरवार

9. इंडोनेशिया में भारतीय संस्कृति — 44-49
इकबाल अहमद

10. प्राचीन चित्रांकन परम्परा में - श्रीराम — 50-59
ललित शर्मा

11. रामलीला का लोकनाट्य स्वरूप 60-64
नेहा राठी

12. प्रकृति का जीवन संगीत हैं ये आदिवासी लोकगीत 65-71
पद्मा मिश्रा

13. श्रमगीतगंगी 72-76
अनन्त आलोक

14. उत्कृष्ट तमिल साहित्य और संस्कृति 77-80
डॉ. राजलक्ष्मी कृष्णन

15. बहुभाषी प्रदेश पुदुचेरी में हिंदी: एक अवलोकन 81-86
डॉ. धनंजय सिंह

16. धर्म का व्यावहारिक व वैज्ञानिक स्वरूप 87-95
डॉ. साधना गुप्ता

17. हिंदी रंगालोचना और डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा का रंगालोचन कर्म 96-105
डॉ. श्वेता पण्ड्या

18. अप्रतिम इतिहास और मनोरम प्रकृति का पर्याय मिर्जापुर 106-110
अमृता पाण्डेय

आदिवासी संस्कृति और पर्यावरण संरक्षण

अंकुश्री,
8, प्रेस कालोनी, सिदरौल,
नामकुम, राँची (झारखंड)

आदिवासियों को प्रकृति-पुत्र कहा जाता है। उनके लिए यह विशेषण ऐसे ही नहीं बना है। प्रकृति से इनके लगाव और जुड़ाव को देखते हुए उन्हें ऐसा कहा जाता है। उनका मौलिक आवास वनों के अंदर या उसके आसपास रहा है। इसलिए उनका दैनंदिन जीवन वनों से जुड़ा हुआ है। उनका रहन-सहन, खान-पान, जीवन-मरण, नाच-गान सभी कुछ वनों पर आश्रित रहा है। वन हो या प्रकृति, उनके रग-रग में रचा-बसा है। इसीलिए आदिवासियों को प्रकृति-पुत्र कहा जाता है।

आधुनिकता के नाम पर वनों से विलगने से पूर्व आदिवासियों को जीविका के सारे संसाधन वन के अंदर ही उपलब्ध थे। जंगली पेड़ के फल, फूल, कंद-मूल, कुछ प्रकार की पत्तियाँ, मिट्टी में दबे कवक, रूगड़ा और तरह-तरह के मशरूम, आदि उनके आहार में शामिल थे। वे पहनने, ओढ़ने और भोजन करने के लिए सखुआ और महुलान आदि की पत्तियों का उपयोग करते थे। भोजन पकाने आदि काम के लिए ईंधन सबकी दैनिक आवश्यकता है। आदिवासियों द्वारा जलावन के लिए जंगल में गिरी-पड़ी लकड़ियाँ काम में लाई जाती थीं। इसके लिए पेड़ों को नहीं काटना पड़ता था। आदमी चाहे किसी समुदाय का हो, उसके शरीर में कमोबेश बीमारी होती रहती है। बीमार पड़ने पर चिकित्सकों के यहाँ दौड़ना सबकी मजबूरी है। मगर आदिवासियों के साथ ऐसी बात नहीं है। वे वनों में उपलब्ध तरह-तरह की जड़ी-बूटियों से ही अपनी चिकित्सा कर लिया करते थे।

आदिवासी सिर्फ आदिवासी नहीं हैं। वे वनवासी हैं, कृषक हैं, शिकारी हैं, चिकित्सक हैं, नर्तक हैं, गायक हैं, प्रकृति के संरक्षक हैं, पर्यावरण के रक्षक हैं, सभ्यता की कड़ी और संस्कृति के पोषक हैं। उनके जीवन में भी बालपन है, किशोरावस्था है, जवानी है, वृद्धावस्था है। नृत्य और गान उनके जीवन के अंग हैं। पर्व-त्योहार मनाना और आपस में मिलना-जुलना इनमें कुछ अधिक ही पाया जाता है। जंगल छोड़ कर रहने के लिए बाहर चले गए आदिवासियों में आज भी एक-दूसरे से मिलने के लिए दूर-दूर तक जाने और वहाँ कुछ दिन रहने की परंपरा कायम है। वे लोग इसे 'मेहमानी' कहते हैं। 'मेहमानी' आदिवासियों की सांस्कृतिक विशेषता है। 'मेहमानी' क्या थी? एक वन से दूसरे वन में वनों से होकर जाना और प्राकृतिक रमणीयता का आनंद लेना।

झारखंड एक आदिवासी बहुल राज्य है। यहाँ 32 आदिवासी जनजातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें आठ आदिम जनजातियाँ हैं। यहाँ की कुल आबादी में से 27 प्रतिशत आदिवासी समुदाय के लोग हैं, जो संख्या में लगभग 86 लाख हैं। इनमें 60 लाख आदिवासी 'सरना' धर्म

को मानते हैं और प्रकृतिवादी हैं। इनके द्वारा प्रकृति की उपासना की जाती है। इनकी भाषा, संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन, परंपरा आदि अलग है। जबकि पेड़-पौधे, पहाड़, प्राकृतिक संपदा आदि इनकी पूजा पद्धति में शामिल है। जनगणना में सरना हेतु अलग धर्म कोड न होने के कारण इनकी वास्तविक संख्या की जानकारी जुटाना संभव नहीं है।

चैत्र मास में सखुआ के पेड़ में फूल खिलते हैं। सफेद फूलों से लदा सखुआ देखने में बहुत आकर्षक लगता है। पूरा वातावरण उसकी मधुर सुगंध से सुबासित हो जाता है। उसी समय आदिवासियों का एक प्रमुख पर्व सरहुल मनाया जाता है। सरहुल झारखंड, बंगाल और उड़ीसा के आदिवासियों का बहुत महत्वपूर्ण पर्व है। अलग-अलग जगहों में सखुआ के फूल भी अलग-अलग समय खिलते हैं। उसी के अनुसार इनके पाहन (पुरोहित) द्वारा इसे मनाने की तिथि निर्धारित की जाती है। होली की तरह सरहुल में भी लोग एक-दूसरे से मिलते हैं। मिलने वालों को गुलाल लगाया जाता है और सखुआ का फूल उनके कानों पर खोंसा जाता है। घरों पर भी सखुआ के फूल लगाए जाते हैं। इस पर्व में कान पर फूल खोंसा जाता है, इसलिए इसे फूलखोंसी भी कहते हैं। इसमें प्रकृति और पर्यावरण से स्पष्ट जुड़ाव दिखाई देता है।

झारखंड के आदिवासियों का दूसरा महत्वपूर्ण पर्व करमा है। यह पर्व बहनों द्वारा भाइयों के लिए किया जाता है। यह भले आदिवासी युवतियों का पर्व है, मगर इसे सामूहिक रूप से त्योहार की भांति बहुत धूमधाम से मनाया जाता है। करमा पूजा भाद्र मास की एकादशी में की जाती है। उसके सात दिन पूर्व बहनें जावा उठाती हैं। करमा पूजा करने वाली युवतियों को करमैतीन कहते हैं। वे सात दिन पूर्व नदी में जाकर स्नान करती हैं और एक नई छोटी टोकरी या डलिया में नदी से बालू लाकर उसमें गेहूं, जौ, चना, धान आदि बीजों की बुआई

झारखंड आदिवासियों की करमा पूजा

करती हैं। इसे 'जावा उठाना' कहते हैं। युवतियाँ अपने-अपने घरों में जावा को सुरक्षित ढँग से रखती हैं और दिन में उसे आखड़ा या आंगन में रख कर उसके चारो तरफ पारंपरिक नृत्य और गान करती हैं। करमा पूजा के दिन युवतियाँ निर्जला रह कर करम के पेड़ या उसकी डाली के पास पूजा करती हैं। इसके लिए वे नाचती-गाती करम स्थल तक जाती हैं। प्रकृति उपासकों के इस पर्व का दृश्य बड़ा ही पवित्र और मनोरम होता है।

आदिवासियों का दैनिक जीवन हो या पर्व-त्योहार, प्रकृति से वह पूरी तरह जुड़ा हुआ है। प्रकृति से जुड़ने का मतलब है पर्यावरण से जुड़ाव और उसका संरक्षण। दूर बैठे लोगों को ऐसा लगता है कि वनों के आसपास रहने वाले लोगों से वनों को खतरा है, वे वनों को नुकसान पहुँचा रहे होंगे। मगर वास्तविकता इससे बहुत दूर है। आसपास रहने वाले लोगों के कारण ही वन सुरक्षित और संरक्षित रह पाया है। आजादी से दशकों पूर्व दूर से लोगों को लाकर वनों में बसाया गया था। ऐसे लोगों के रहिवास को 'वन ग्राम' कहते हैं। वन प्रबंधन में उनका बहुत योगदान था। वनों की सुरक्षा से जुड़े कार्यों के लिए वे मजदूर के रूप में आसानी से उपलब्ध हो जाते थे। उनके कारण बाहरी लोग वनों में घुसने से डरते थे और इस तरह वनों की सुरक्षा हो जाती थी। पर्यावरण संरक्षण में उनका योगदान अतुलनीय था। इसके लिए उन्हें अलग से सोचना नहीं पड़ता था या उन्हें इसके लिए समझाना भी नहीं पड़ता था। आदिवासियों में वन और उसकी इकाइयों को बचाने के प्रति लगाव परंपरागत है तथा वनों का संरक्षण इनके संस्कार में शामिल है।

मगर आज स्थिति बदल गई है। वनों में रहना सभ्यता के विरुद्ध माना जाने लगा है। यहाँ तक कि वनों के आसपास के लोग भी वनों से दूर के गाँवों और शहरों में बसने लगे हैं। वनों के आसपास का क्षेत्र छोड़ कर दूर जाकर बसना आदिवासियों की सिर्फ निजी सोच का परिणाम नहीं है। बल्कि प्राकृतिक आवासों से दूर बड़े-बड़े भवनों में बसना-बसाना विकास का मापदंड हो गया है। वनों के आसपास उनके रहने से वन संरक्षित और सुरक्षित रहते थे। वनों से दूर चले जाने के कारण वनों का तेजी से विनाश हुआ है। यह स्थिति पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति खतरनाक है।

जल, जंगल और जमीन की बातें करने वाले बहुत लोग हैं। इन तीन शब्दों की कशीदाकारी लोग अपने आलेख या भाषण में खूब करते हैं। मगर सच्चाई यह है कि जल, जंगल या जमीन को बचाने वाले आदिवासी ही हैं। विकास के नाम पर उन्हें वनों से दूर करने के बाद वनों की जो बर्बादी हुई है, वह प्रत्यक्षतः दिखाई दे रही है। अल्पकाल में ही बहुत सारे वन उजड़ गए हैं।

वनों को आग से भारी नुकसान पहुँचता है। आदिवासियों के पलायन के कारण वनों में आग लगने की घटनाएँ अधिक बढ़ गई हैं। वनों में गिरी-पड़ी पत्तियों और लकड़ियों का उनके द्वारा जलावन के रूप में उपयोग किया जाता था। लेकिन वनों से उनके दूर चले जाने के कारण वहाँ गिरी-पड़ी लकड़ियों और पत्तियों को चुनने

की परंपरा खत्म हो गई। इससे वनों में आग लगने की घटनाएँ अधिक होने लगी हैं।

आग से वनों के बचाव के लिए अग्नि सुरक्षा खाई खोदना वन प्रबंधन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। सूखी हुई पत्तियाँ हवा के साथ उड़-उड़ कर अग्नि सुरक्षा खाई में जमा हो जाती हैं। ऐसी खाइयाँ पेड़-पौधों से दूर रहती हैं और इसके कारण वन कई भागों में बंट जाता है। इससे आग लगने पर समूचे वन को एक साथ नुकसान नहीं पहुँच पाता। खाइयों की नियमानुसार खुदाई नहीं हो पाने से वनों में लगी आग निर्बाध ढंग से चारों तरफ फैल जाती है।

देश हो या विदेश, प्रति वर्ष वनों में आग लगती रहती है। विज्ञान की इतनी तरक्की के बावजूद वनों में बड़े पैमाने पर लगी आग पर काबू पाना आसानी से संभव नहीं हो पाता। वर्ष 2022 में अमरिका के सेरो पेलाडो के वनों में लगी आग पर काबू पाना बहुत कष्टकर हो गया था। 60 वर्ग मील क्षेत्र में लगी आग पर काबू पाने के लिए महीनों मशक्कत करनी पड़ी थी। फिर भी सब कुछ बर्बाद हो गया। इस दौरान बेकाबू आग ने वनों और वन्यप्राणियों को जला कर भस्म किया, वहीं आसपास के लोग भी तबाह हो गए। अपने घरों को खाली कर भागने से लोगों की जान तो बच गई, मगर सामानों से हाथ धोना पड़ा और निर्वासन का दुख भी झेलना पड़ा। इसे संस्कृति की उपेक्षा और उसके साथ किए गए खिलवाड़ का परिणाम भी कह सकते हैं।

दूर बैठे लोगों के लिए ऐसी घटनाएँ भले समाचार लगती हैं, मगर इससे प्रभावित क्षेत्र की बर्बादी और पर्यावरण के प्रदूषण की भरपाई महीनों या सालों की कौन कहे, सैकड़ों वर्षों में संभव नहीं हो पाती। जंगल में आग लगने के अनेक कारण हो सकते हैं। मगर वन प्रबंधन की कमी इसका मुख्य कारण है। अग्नि सुरक्षा खाई खोदने के लिए वनों के निकट मजदूरों का न मिलना भी इसका एक बहुत बड़ा कारण है। जंगल से हटाए गए आदिवासी अपनी संस्कृति और परंपरा से दूर हो जाते हैं। इससे उनकी संस्कृति में बदलाव आता है और उसमें ह्रास भी होता है।

आदि का अर्थ प्राचीन होता है। आदिवासी धरती के प्राचीन मूल निवासी हैं। यह समुदाय प्राचीन काल से हमारे वनों, पहाड़ों और प्राकृतिक संपदाओं की रक्षा करता आ रहा है। पर्यावरण और प्रकृति की रक्षा करने में इनका अहम योगदान रहा है। भारत की जनसंख्या का लगभग 09 प्रतिशत भाग आदिवासियों का है। इनके देशज ज्ञान की परंपरा काफी समृद्ध और प्राचीन है। इनके पास थ्री डी - डिजास्टर, डिफेंस और डेवलपमेंट का अद्भुत ज्ञान है। अंडमान के जारवा आदिवासी सुनामी जैसी भयानक प्राकृतिक आपदा में इसका उदाहरण प्रस्तुत कर चुके हैं। आदिवासी संस्कृति को संजोए रखना, उनके स्वाभिमान की जागृति बनाए रखना जल, जंगल और जमीन की रक्षा के लिए बहुत आवश्यक है। प्रकृति से जुड़े और स्वाभाविक रूप से पर्यावरण की रक्षा के लिए तत्पर आदिवासी समुदाय को बचाकर रखना बहुत जरूरी है। परंपराओं को निभाते हुए ये शादी से लेकर हर शुभ कार्य में पेड़ो को साक्षी बनाते हैं। वन संरक्षण की प्रबल प्रवृत्ति के कारण ये वन व वन्य जीवों से अपने लिए उतना ही लेते है जिससे इनका जीवन

सुलभता से चल सके व आने वाली पीढ़ी को भी प्राकृतिक वन स्थल की धरोहर सौंप सकें।

भारत के प्रमुख आदिवासी समुदायों में भील, गोंड, मुंडा, खड़िया, हो, बोडो, खासी, सहरिया, संथाल, मीणा, उरांव, परधान, बिरहोर, पारधी, आंध, टोकरे कोली, महादेव कोली, मल्हार कोली, टाकणकार, अगारिया, परजा आदि शामिल हैं। प्रकृति पूजक होने के कारण ये प्रकृति में पाए जाने वाले सभी जीव-जंतु, पर्वत, नदी-नाले, खेत आदि की पूजा करते हैं। इनका मानना है कि प्रकृति की हर एक वस्तु में जीवन होता है। वन एवं वन्य जीवों को ये अपने परिवार का अंग मानते हैं। वनों में रह कर ये उसकी सुरक्षा करते रहे हैं, कभी उसके लिए बाधक नहीं बने हैं। ये वन और अपने अस्तित्व को बचाने के लिए निरंतर प्रयासरत रहते हैं। ऐसा देखा गया है कि आदिवासी क्षेत्र वाले वनों की कटाई की दर बहुत कम है।

आदिवासी अपनी परंपरा के अनुसार पूजा करते हैं। उनके पूजा की जगह को सरना स्थल कहते हैं। विभिन्न पर्व-त्योहारों के अवसर पर वे वहाँ एकत्रित होकर पूजन कार्य संपन्न करते हैं। एक बात बहुत स्पष्ट है कि जो आदिवासी अपने सरना धर्म से जुड़े हैं, वे प्रकृति से भी अधिक गहराई से जुड़े हुए हैं।

प्रकृति एक ऐसी शक्ति है जिसके बिना जीवन की परिकल्पना किसी के लिए भी असंभव है। आदिवासियों की अनेक परंपरा पेड़-पौधों से जुडी हुई हैं। गोंड आदिवासी नवाखाई पर्व में साहजा पेड़ की पूजा करते हैं और सपरिवार कोरिया पेड़ के पत्ते से प्रसाद और धान के नए चावल का खाना ग्रहण करते हैं। शादी समाज का एक महत्वपूर्ण संस्कार है। शादी और दूसरे संस्कारों का निर्वहन परंपराओं के अनुसार किया जाता है। आदिवासी इसमें बहुत निपुण हैं। इसी क्रम में ये महुआ, आम, डूमर, नीम, पीपल, बरगद आदि अनेक पेड़ों की पूजा करते हैं। आदिवासियों के कुल और गोत्र का निर्धारण पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों के नाम पर निश्चित हुआ है। इसलिए वे उनकी पूजा और रक्षा करते हैं। इस तरह वे पर्यावरण के स्वतः संरक्षक बने हुए हैं।

आदिवासियों का रहन-सहन प्रकृति से जुड़ा है। वे वनों से प्राप्त विभिन्न तरह के फूलों और पत्तियों से अपना श्रृंगार करते हैं। वन में पाए जाने वाले वन्यप्राणियों के सींग और पक्षियों के पंखों से वे सजावटी आभूषण बनाते हैं। पुरुष सींग, चमड़ा और पंख से अपने को सजाते हैं। वे मुर्गे के पंख से बना झलिंग (मुकुट) पहनते हैं और जानवरों के रोयेंदार चमड़े का भी प्रयोग करते हैं। महिलाएँ फूल-पत्तियों से बने आभूषण अधिक पहनती हैं। वे कान, नाक, गला, बांह, कलाई, टखना आदि में चाँदी और गिलेट के बने आभूषण पहनती हैं। वे अपने बालों का कई प्रकार से जूड़ा बनाती हैं और उन्हें फूलों से सजा लेती हैं। बांह, कलाई, टखना आदि को फूल की लड़ियों से सजाना उनका प्रिय शौक है। ढ़ोलक, नगाड़ा और सींगा बाजा आदिवासियों के विशेष वाद्ययंत्र हैं, जिन्हें वे रंग-बिरंगे फूल-पत्तियों और पंखों से सजाये रहते हैं। ढ़ोल-नगाड़ा बजाते हुए जब वे नाचते और गाते हैं तो नृत्य, गान और पैरों की थाप एक लय होकर ऐसा लगता है कि प्रकृति झूम रही है।

*****

पूर्वोत्तर क्षेत्र की सांस्कृतिक परंपरा का केंद्र बिन्दु 'सत्रीय' संस्कृति

स्वप्ना मण्डल,
राकेश मण्डल, म. नं. 16
बीरूवारी, गोपनाथ नगर,
धर्म शर्मा पथ, गुवाहाटी

पूर्वोत्तर क्षेत्र भारत का उत्तर-पूर्वी भाग है जिसे ईशान्य भी कहा जाता है। कहते हैं कि भारतीय परंपरा में जितने प्रकार की विविधता है, उतने प्रकार की विविधता पूर्वोत्तर के जनसमूह में भी है। तथापि यह विविधता प्रतिघाती नहीं है, बल्कि ओजस्वी भारत के निर्माण में सहायक है। अतः विविधता में एकता सहजता से पूर्वोत्तर में देखी जा सकती है।

पूर्वोत्तर भारत सिक्किम सहित आठ राज्यों असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम, मणिपुर, नागालैंड तथा त्रिपुरा का समूह है। अप्रतिम सौंदर्य और सांस्कृतिक समायोजन यहां की विशेषता है। इसी सांस्कृतिक समायोजन का प्राण केंद्र है, 'सत्रीय संस्कृति'।

'सत्रीय संस्कृति' की स्थापना असम के नववैष्णव आंदोलन से जुडे एकशरण नामक धर्म' के प्रचार-प्रसार के लिए की गई थी। महान वैष्णव संत तथा समाज सुधारक श्रीमंत शंकरदेव (1449-1568 ई.) ने 'सत्र' परंपरा की शुरूआत की। सन् 1481 में श्रीमंत शंकरदेव अपने गुरू महेंद्र कंदलि के साथ भारत के विभिन्न प्रांतों के भ्रमण पर निकले थे। लेकिन उनके चिंतन को स्वाभाविक विकास मिला अपनी दूसरी यात्रा को पूर्ण करके। बात सन् 1550 की है। इस समय गुरू-शिष्य समेत कुल 120 जन मिलकर भारत के विभिन्न प्रदेशों में घूम-घूमकर वहां की संस्कृति को आत्मसात करके लौट आए। यात्रा को पूर्ण करके उन्होंने अपने विचारों को ग्रंथों का आकार दिया, साथ ही प्रवचन के माध्यम से लोगों में व्याप्त अंधविश्वासों से मुक्ति के लिए शिक्षा को चुना। इन्हीं विचारों को आकार देने के लिए बरदोवा में वैष्णव मठ "सत्र" की स्थापना की गई। श्रीमंत शंकरदेव तथा उनके शिष्य 'प्रकशरण नाम धर्म' की दीक्षा देने के उद्देश्य से खुले आसमान के नीचे बैठकें लगाते थे। इन बैठकों में धर्म के गूढ रहस्य को अपने शिष्यों के साथ विचार विमर्श द्वारा आगे बढ़ाने के उद्देश्य से सभाओं का आयोजन करते थे। इन्हीं स्थानों को कालांतर में 'सत्रों' का रूप दिया गया। आगे चलकर सत्र तथा सत्रीय संस्कृति पर विवादों का अंधकार शुरू हुआ कि इसका उत्तराधिकारी कौन होगा? एकशरण नाम धर्म की रूपरेखा क्या होगी? कह सकते है कि एक प्रकार से कर्मकांड का जाल बुना जाने लगा जबकि श्रीमंत शंकरदेव कर्मकांड से कोसों दूर थे। श्रीमंत शंकरदेव के

शिष्य तथा उनके योग्य उत्तराधिकारी श्री माधवदेव पर इस कार्य को करने का गुरूदायित्व आया। उनके जीवित काल में 'एक शरण' नामक धर्म के प्रचार प्रसार में कोई भी विवाद उत्पन्न नहीं हुआ। लेकिन आगे चलकर आपसी विवादों के चलते 'एक शरण नामक धर्म' चार भागों में विभक्त हो गया। इन भागों को 'संहति' (संप्रदाय) कहते हैं। इन चारों संहति ने 'सत्र' तथा 'सत्रीय संस्कृति' को एक नया रूप प्रदान किया। डॉ. सत्येंद्रनाथ शर्मा ने इसे 'सत्र वैष्णववाद' का नाम दिया। सत्र वैष्णववाद के माध्यम से एक नए पूर्वोत्तर का उदय हुआ।

श्रीमंत शंकरदेव के जीवनकाल में 'सत्र' शब्द का प्रचलन कहीं नहीं था। इस बात की पुष्टि डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद मागध ने अपनी पुस्तक 'महाकवि शंकरदेव: विचारक एवं समाज सुधारक' में लिखा है कि श्रीमंत शंकरदेव के समय तक 'सत्र' शब्द का प्रयोग न तो रूढ़ हुआ था, न स्थायी तौर पर 'सत्र' निर्मित ही हुए थे। उस समय उसे देव मंदिर कहा जाता था।

अपने भागदौड़ के जीवन में वे जहां कहीं जाते वहीं अस्थायी देवगृह (सत्र) निर्मित कर लिया जाता। वस्तुतः सत्र व्यवस्था माधवदेव एवं उनके पश्चात की देन है। अर्थात् सत्रों का निर्माण श्रीमंत शंकरदेव ने नहीं बल्कि श्री माधव देव ने किया। श्रीमंत शंकरदेव ने उसकी सिर्फ नींव रखी थी।

असम के 'सत्रों' में 'भक्त' (सत्राधिकारी) समाज के अंगस्वरूप होकर तथा वैष्णव संस्कृति को केंद्र में रखकर भागवत चर्चा करते हैं। जिस मुहिम की शंकरदेव ने अपने जीवन काल में प्रतिष्ठापना की थी वह मुहिम आज असम की सामाजिक, सांस्कृतिक, क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। उनके शिष्य श्री माधव देव ने इसके प्रचार प्रसार हेतु 'सत्रों' तथा नामघरों की स्थापना की। यद्यपि उनकी मृत्यु के उपरान्त 'संहति' का विभक्त होना एक बड़ी समस्या लेकर सबके सम्मुख आई, लेकिन विभक्ति के बाद आज भी 'सत्र' तथा 'सत्रीय संस्कृति' जीवित है। ये सिर्फ श्रीमंत शंकरदेव, श्री माधव देव की ही देन नहीं, इसमें और भी गुरूजनों का महत्वपूर्ण योगदान है। उदाहरण के लिए - दामोदर देव, मथुरा दास आता, गोपालदेव आता, पुरूषोत्तम ठाकुर, चतुर्भुज ठाकुर प्रमुख हैं। आज की जो सत्र संस्कृति है उसको विकसित करने में इन गुरूजनों ने अपना बहुमूल्य योगदान दिया। इन गुरूजनों का संहति के लिए किया गया योगदान संक्षेप में इस प्रकार है-

ब्रह्म संहति

'ब्रह्म संहति' के संस्थापक थे दामोदर देव और हरिदेव। दामोदर देव ने अपनी धार्मिक गतिविधियों में कभी कमी नहीं आने दी। उन्होंने अपने योग्य शिष्यों को असम के कोने-कोने में जाकर 'नववैष्णव संस्कृति' का प्रचार प्रसार करने का उत्साह दिया। यद्यपि यह सहज नहीं था,

क्योंकि श्रीमंत शंकरदेव के देहावसान के बाद योग्य गुरूपद को लेकर झगड़ा शुरू हुआ। सबको लगा था कि श्रीमंत शंकरदेव अपना उत्तराधिकारी दामोदरदेव को बनाएंगे, लेकिन हुआ इसके विपरीत। श्रीमंत शंकरदेव ने श्री माधव देव को चुना। इससे क्षुब्ध होकर दामोदर देव तथा उनके अनुयायियों ने अपने अलग 'सत्र' की स्थापना की। ब्रह्म संहति में भगवान विष्णु, कृष्ण तथा शालिग्राम की पूजा का विधान है। ब्रह्म संहति के विकास में हरिदेव तथा उनके शिष्य यदुमणि की भूमिका भी अग्रगण्य है। असम के इतिहास में ब्रह्म संहति ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। इसे आहोम राजवंश का संरक्षण प्राप्त था और सत्र समूह के कारण इसका विकास असम के कोने-कोने, जैसे-कलियावर ओउवी आटी सत्र, विष्णुपुर सत्र, कलावारी सत्र, भीमपुर सत्र, बेलगुरी सत्र आदि में हुआ। इस संहति में वंशी गोपाल देव, यदुभति देव, हरिदेव, यदुमणि जैसे प्रतिभाशाली शिष्यों ने अपना योगदान दिया ।

पुरुष संहति

पुरूष संहति के प्रवर्तक पुरुषोत्तम ठाकुर थे। ये श्रीमंत शंकरदेव के पौत्र थे। इसलिए इस संहति का नामकरण उनके नाम पर हुआ। इस संहति में श्रीमंत शकर देव तथा माधव देव दोनों को गुरू का स्थान दिया गया। श्रीमंत शंकरदेव के सिद्धांतों को वास्तविक रूप इसी संहति ने दिया। इसके लिए माधव देव ने अपने बारह योग्य शिष्यों को संहति के प्रचार-प्रसार के लिए सत्रों की स्थापना की। 'बरदोआ' सत्र इसके पल्लवन में जो योगदान दिया उसे आज भी असमवासी अपने घर में थान के रूप में पूजते हैं, पुरुषोत्तम संहति को आगे ले जाने में पुरुषोत्तम ठाकुर, चतुर्भुज ठाकुर तथा चतुर्भुज ठाकुर की पत्नी कनकलता ने आगे चलकर मार्गदर्शन दिया। इस संहति में नाम संकीर्तन, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें प्रभु प्रार्थना एवं आराध्य की स्तुति में गीत गाने की परंपरा है। 'एक नाम सेवा' ही इसका मूलमंत्र है। कीर्तन घोषा, नाम घोषा, मणिकूट में स्थापित किए जाते हैं। 'मणिकूट' को ही गुरूवर 'शंकर माधव का रूप मानते हैं। इस संहति के प्रमुख 'सत्रों' में बरदोआ (नगांव), भोगपुर, सामागुरी, सालगुरी, खतपुर, पाटबाउसी आदि आते हैं।

कला संहति

कला संहति की स्थापना गोपाल आता ने की थी। गोपाल आता ने भवानीपुर में एक स्थान 'काला जार' में सबसे पहले उपदेश दिया था जिस कारण इस का नाम 'कला संहति' पड़ा। इस संहति में गुरू को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। इस संहति में ऊँच-नीच, जात-पात, छुआछूत का कोई स्थान नहीं है। इसलिए यह जनजातियों में अपनी परंपरा को जीवित रखने में सक्षम हुई है। इस संहति में दीक्षा ग्रहण करके 'महापुरुषीय' धर्म को आगे ले जाना ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

किसी भी तरह का कर्मकाण्ड इस संहति में नहीं है। 'कला संहति' के विचार तथा सफलता में गोपाल आता के बारह शिष्यों ने उल्लेखनीय भूमिका निभायी है, यूं कह सकते हैं कि इसका आधार स्तम्भ ही इन बारह शिष्यों यथा युदमनी, अनिरूद्ध, सारूदुमती, श्रीराम आता, रामचंद्र आता, नारायण, सनातन, परमानंद, मुरारी, पुरुषोत्तम आदि ने रखा है। इनके द्वारा चलाए गए 'सत्र' में बहुत सी शाखाएँ असम के कोने-कोने में पाई जाती हैं। जैसे-बाहबरी, दिहिंग, मायामरा, गजाला, आहतगुरी, कराईबारी शाखाएँ आज भी वैष्णव मत के प्रचार-प्रसार में लगी हैं। सभी को एक साथ लेकर चलने की परंपरा में इस संहति का अद्वितीय योगदान है।

निका संहति

'निका' अर्थात् स्वच्छ, परिष्कार आदि नाम से ही पता चलता है कि इसमें 'पवित्रता' को नित्य कर्म का एक अंग माना गया है। यद्यपि इसकी स्थापना बहुत बाद में हुई है लेकिन महापुरुषीय धर्म का एक नित्य स्वरूप इसी में देखा जा सकता है। इस संहति में मथुरादास आता, केशव आता और पद्म आता अग्रण्य हैं। इसमें मन और शरीर को शुद्ध रखने की बात की गई है तथा कठोर अनुशासन को ही जीवन का अंग माना गया है। ब्रजबुलि में लिखे भागवत ग्रंथ को 'थान' में पूजा जाता है, क्योंकि इसमें मूर्ति पूजा निषिद्ध है। यहाँ तक कि अन्य देव-देवी, भगवान का मुख दर्शन और प्रसाद ग्रहण भी निषिद्ध है। इसमें सिर्फ 'भक्ति' को स्थान मिला है। माजुली में स्थित कमलाबारी सत्र बरपेटा सत्र, कूचबिहार, मधुपुर सत्र निका संहति के केन्द्रीय 'सत्र' हैं।

माजुली: असम का सांस्कृतिक शहर, असम की सांस्कृतिक राजधानी- माजुली द्वीप-भारत का पहला नदी किनारे का जिला

सत्र समूह को आगे ले जाने में सत्राधिकारियों का अमूल्य योगदान रहा है। सत्राधिकारी सांसारिक मोहमाया से परे हटकर धार्मिक जीवनयापन करते हैं। अविवाहित रहकर 'महापुरुषीय' जीवन यापन करना इनका एक मात्र उद्देश्य होता है। इन्हें गुरू का पद प्राप्त होता है। गुरू यानी सत्राधिकारी के बाद 'डेका अधिकारी' का स्थान आता है। डेका अधिकारी अति निष्ठा के साथ धार्मिक आचार अनुष्ठान के साथ-साथ सभी पोथी की पूजा करते हैं। असमिया संस्कृति में 'मणिकूट' (गर्भगृह) आस्था का प्रतीक है।

मणिकूट के बाद 'थान' का सत्रीय संस्कृति में विशेष स्थान है। "थान" वह पवित्र स्थल है जहाँ महापुरुष जन्म लेते हैं। एक शब्द में कहें तो पूर्व संतों के सांस्कृतिक अवशेषों को संरक्षित किया गया है।

असम के लोकजीवन पर सत्र तथा सत्रीय संस्कृति का बहुत ही गहरा प्रभाव है। इन्होंने सिर्फ वैष्णव धर्म को ही समृद्ध नहीं किया, बल्कि सांस्कृतिक छिक जैसे-गायन, वादन, नृत्य, नाट्य, मुखौटा कला, साहित्य, संस्कृति का भी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर परिचय करवा कर भारतीय संस्कृति के एक महत्वपूर्ण अंग को दर्शाया है। यूँ कह सकते हैं कि असम का प्राण केंद्र 'सत्र' तथा 'सत्रीय संस्कृति' है। इस संस्कृति को आज भी माजुली वासियों ने जीवित रखा है। माजूली मुखौटा निर्माण के लिए प्रसिद्ध हैं। इनमें रास उत्सव भी बहुत ही हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। यही नहीं 'सत्रों' में शास्त्रीय नृत्य 'संगीत नृत्य' भी सिखाया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सत्रों' की परंपरा आज की नहीं है। यह उस समय से हमारे गुरुजनों द्वारा बनाया गया नियम है जिसकी अखंडता आज भी घर-घर में 'अखंड ज्योति' बनकर हमारी आने वाली पीढ़ी के पथ प्रदर्शक के रूप में अलग पहचान रखे हुए है। आज के समय के लिए 'सत्र' तथा 'सत्रीय संस्कृति' एक वरदान है ताकि हम अपनी पंरपरा को जीवित रख सके और वैश्विक स्तर पर हमारी पहचान बनी रहे।

असम का सत्रीय नृत्य

*****

किराड़ूः खजुराहो का प्रतिरूप

चन्द्रकान्ता शर्मा
124/61-62, अग्रवाल फार्म,
मानसरोवर, जयपुर
(राजस्थान)

किराड़ू राजस्थान में भव्य मूर्तिकला का अनुपम तथा मनोहारी सांस्कृतिक स्थल है। यहाँ की प्रस्तर कला को विश्व की अन्य मूर्तिकलाओं के समकक्ष रखकर तुलना की जा सकती है और पाया जा सकता है कि किराड़ू का सांस्कृतिक वैभव विश्व की कहीं अन्यत्र स्थित प्रस्तर कला की तुलना में कम नहीं है। हालांकि काल के थपेड़ों से किराड़ू की कला के वैभव का क्षय हुआ है तथा उजड़ा है, परन्तु भग्न होते अवशेष आज भी इसकी जीवंत कथा को स्वयं कह रहे हैं। बाड़मेर जिले में स्थित इस स्थल की विशेषताएँ इतनी हैं कि उन्हें शब्दों में बाँध पाना कठिन है तथा देखने पर ही इसके सम्पूर्ण स्वरूप से वाकिफ हुआ जा सकता है।

किराड़ू में पाँच मंदिरों का जो समूह उपलब्ध है, उसे देखने से पता चलता है कि यह देश की सांस्कृतिक विरासत को आज भी अपने में समेटे हुए है तथा अपने समय में सांस्कृतिक आदान-प्रदान का यह महत्वपूर्ण स्थल रहा होगा। किराड़ू में प्रतिहार कला की अनुपम छटा देखी जा सकती है। वहीं खजुराहों का शिल्प सौन्दर्य भी सहज ही उपलब्ध हो जायेगा। मूर्तिशिल्प ऐसे कि मुँह से बोलते हैं। किराड़ू में जो शिलालेख उपलब्ध हैं- वही इसकी ऐतिहासिकता का बखान करते हैं। ये शिलालेख विक्रमी संवत् 1209 में कुमार सोलंकी, 1218 में परमार सिंधु राजा तथा वर्ष 1235 में गुजरात के सोलंकी नृप भीमदेव ने खुदवाये हैं। हालांकि ये शिलालेख धुंधले हो गये हैं, परन्तु फिर भी किराड़ू का इतिहास बताते हैं।

किराड़ू में मूर्तिशिल्प की मनोहारी श्रृंखला बहुत ही विशिष्ट तथा दर्शनीय है। अनेक नारी शिल्प सजीव रूप में विद्यमान हैं। इन नारी शिल्पों में नारीगत मनोभावों को जीवंत रूप में उकेरा गया है। इनमें लज्जा, मातृत्व, श्रृंगार तथा नृत्य का शिल्प बहुतायत से उभारा गया है। ये मूर्ति शिल्प विश्वविख्यात खजुराहों के मूर्ति शिल्पों की याद ताजा कर देते हैं तथा कारीगरों की कुशलता के प्रति श्रद्धा भी। किराड़ू के मूर्ति शिल्पों में मूर्ति कला की अनेक शैलियों का सुघड़ता से प्रयोग मिलता है तथा धार्मिक-सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिकता का समन्वय मानव मन को असीम संतोष देता है।

किराडू में सोमेश्वर मन्दिर चवालीस स्तंभों पर बनाया गया है। यहाँ पर बने हाथियों का शिल्प सौंदर्य तथा अश्वों की श्रृंखलाबद्ध कारीगरी देखते ही बनती है। यह देखकर हैरानी होती है कि इतने बलिष्ठ-सुघड़ कलात्मक शिल्प को कैसे वे कारीगर आकार दे सके होंगे। साथ ही नारी युग्म तथा मैथुन मुद्राओं की बहुत ही स्तरीय कला का निर्वाह भी किया गया है। यहाँ युद्ध के लिए प्रस्थान करते नायकों को नायिकाओं द्वारा अनेक प्रकार से दर्शाया गया है।

ऊपरी तथा आंतरिकताओं में विविध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मंदिर की अन्य विशेषताओं में से हैं। इसके अलावा ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, कुबेर तथा महेश का मूर्ति शिल्प बहुत ही सुघड़ता व बहुतायत से उत्कीर्ण किया गया है। वैसे तोरण नष्ट हो गया है, परन्तु सभा मण्डप में बने खंभों का सौन्दर्य आज भी शिल्प की सच्चाई को बता रहा है।

किराडू में दूसरा मंदिर शिव शक्ति का है। यह मंदिर काफी ध्वस्त हो गया है तथा कुछ भाग शेष रह गया है। केवल गर्भगृह का ऊपरी हिस्सा तथा सभा मण्डप तथा श्रृंगार कक्षों के अवशेष ही बच पाये हैं। इसमें शर-शय्या पर सोए गंगा पुत्र भीष्म को दिखाया गया है। इसके

अलावा भी अन्य देवताओं को उनकी नायिकाओं के साथ उकेरा गया है। यहाँ के शिल्प में रामायण एवं महाभारत कालीन अनेक दृष्यावलियों को प्रस्तर पर उत्कीर्ण किया गया है। इस शिव शक्ति मंदिर में भी अनेक मूर्ति शिल्पों की अनूठी श्रृंखला को आकार मिला है तथा ये शिल्प जीर्ण-शीर्ण होने के बाद अब भी जीवंत लगते हैं।

सूर्य मंदिर, राजस्थान

सूर्य शिव शक्ति मंदिर इसके पूर्व की ओर है जो अब केवल एक शिखर मात्र के रूप में ही सुलभ है। यहाँ की मूर्तियों में कामसूत्र के विविध आसन मूर्तिकारों ने उकेरे हैं तथा मंदिरों के शिखर में असंख्य कामातुर शिल्प सौंदर्य को उढ़ेला है। कुछ शिल्पों में पशुओं को भी काम क्रीड़ा करते हुए दिखाया गया है। इसके अलावा विष्णु मंदिर में भी मूर्तियों की भरमार है, परन्तु यह मंदिर काफी नष्टप्रायः हो गया है तथा इसका कुछ ही भाग बच पाया है। यहाँ भी मूर्तियों में मैथुन मुद्राओं को प्रमुखता मिली है।

किराडू राजस्थान का खजुराहो है। यहाँ का शिल्प सौंदर्य किसी भी दृष्टि से कम नहीं आंका जा सकता। राजस्थान के मरूस्थल में यह अनूठा मूर्ति कला का उच्च केन्द्र अचरज का विषय है तथा इसे लगातार देखते रहने पर भी मन नहीं भरता। किराडू भारतीय मूर्ति कला की ऐतिहासिक विरासत का मुखर केन्द्र है तथा यह पर्यटकों के लिए विकसित किया जाए तो लाखों लोगों की आशा का केन्द्र बन सकता है। किराडू को उचित संरक्षण व देखभाल की आवश्यकता है तथा इसे और विकसित किया जाना चाहिए।

*****

शास्त्र से सर्जना तक छाया ऋतुराज वसन्त और वाग्देवी सरस्वती
आओ निहारें, बनन में बागन में बगरयो बसंत है

डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा,
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
हिंदी अध्ययनशाला कुलानुशासक,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)

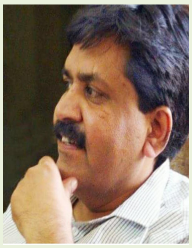

ऋतुराज वसन्त, वसन्त पंचमी और वाग्देवी सरस्वती का संबंध अनेक सदियों से चला आ रहा है। सरस्वती की पूजा - आराधना का अनूठा पर्व है वसन्त पंचमी तो ऋतुराज बसंत के स्वागत का पर्व भी है। सुदूर अतीत से वसंत पंचमी को आगमोक्त विधि से महाशक्ति सरस्वती की पूजा का विधान मिलता है। बसंत समऋतु का परिचायक है और देव, ऋषि, कवि, साधारण जन सभी को समभाव से आह्लादित करता है। वसन्त पंचमी के दिन माँ शारदे की उपासना कर ज्ञान का वरदान प्राप्त किया जाता है तो यह दिन कामदेव की पूजा को भी समर्पित है।

भारतीय शास्त्रों और काव्यकृतियों में वाग्देवी सरस्वती की महिमा कई रूपों में व्यक्त की गई है। ऋग्वेद में सरस्वती नदी मातृ का और वाग्देवी के रूप में वर्णित है। देवी रूप में वे पवित्रता, शुद्धि, समृद्धि और शक्ति प्रदाता मानी गई हैं। वहाँ उनका संबंध पूषा, इंद्र और मरुत से बताया गया है। यज्ञीय देवता इड़ा और भारती से भी उनका संबंध बताया गया है। परवर्ती काल में भारती सरस्वती से अभिन्न मान ली गईं। ब्राह्मण काल में उनका वाक् से अभेद मान लिया गया। कालान्तर में उन्हें विद्या और विविध कला रूपों की अधिष्ठात्री के रूप में प्रतिष्ठा मिली। उनके स्वरूप का अंकन भी स्थान-स्थान पर मिलता है। जैसे वे श्वेत पद्म पर आसीन, शुभ्र हंसवाहिनी, तुषार धवल कान्ति, शुभ्रवसना, स्फटिक माला धारिणी, वीणा मण्डितकरा, श्रुतिहस्ता हैं। कामना की गई है कि ऐसी भगवती भारती प्रसन्न हों, जिनकी असीम कृपा से मनुष्य में कला, विद्या, ज्ञान तथा प्रतिभा का आलोक उत्पन्न होता है।

सरस्वती समस्त विद्याओं की अधिष्ठात्री हैं। यश उन्हीं के धवल अंग की ज्योत्स्ना है। वे सत्त्वरूपा, श्रुतिरूपा और आनन्दरूपा कही गईं। विश्व में सुख, सौन्दर्य का वही सृजन करती हैं। मान्यता है कि वे अनादि शक्ति भगवान ब्रह्मा के कार्य की सहयोगिनी हैं। उन्हीं की कृपा से प्राणी कार्य के लिये ज्ञान प्राप्त करता है। उनका कलात्मक स्पर्श कुरूप को परम सुन्दर कर देता है। सद्विवेक ही उनका वास्तविक प्रसाद है। भारत में सरस्वती की उपासना सदा होती आयी है। युगों युगों से सर्जकगण उनके पावन चरणों का स्मरण करके ही अपना काव्यकर्म प्रारम्भ करते थे। प्रतिभा की अधिष्ठात्री के चरित तो सर्वत्र प्रत्यक्ष हैं। समस्त वाङ्मय, सम्पूर्ण कला और पूरा विज्ञान उन्हीं का वरदान है। मनुष्य उन जगन्माता की अहेतुक कृपा से प्राप्त शक्ति का

दुरुपयोग करके अपना नाश कर लेता है और उनको भी दुखी करता है।

परिवर्तन प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है, जो विभिन्न ऋतुओं के माध्यम से साकार होता है। ऋतु शब्द के मूल में ऋतु है, जिसका अर्थ ही है- स्वाभाविक व्यवस्था या भौतिक एवं आध्यात्मिक निश्चित नियम। भारतीय परम्परा वर्ष भर में छह ऋतुओं के चक्र को स्वीकार करती है। ये ऋतुएँ हैं- ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त। वैसे तो हर ऋतु की अपनी महिमा है, लेकिन सभी ऋतुओं का राजा वसन्त ही माना गया है। प्राचीन काल में यह ऋतु चैत्र और वैशाख में आती थी, किंतु अयन के विचलन से अब फाल्गुन और चैत्र वसंत के महीने माने जाते हैं। फाल्गुन के पहले से ही प्रकृति में वसंत के आने के संकेत मिलने लगते हैं। माना जाता है कि माघ शुक्ल पंचमी को शीत की विदाई देकर धरती पर वसंत उतरता है। यह दिन वसंत पंचमी के नाम से प्रसिद्ध है। वसंत के साथ-साथ यह दिन ऋतु पूजा, वेद पूजा, सरस्वती पूजा, प्रकृति पूजा, कृष्ण पूजा और रति पूजा का भी दिन है।

ऋतुराज वसंत के आगमन से प्रकृति युवा हो उठती है। धरती अपना रूप सँवारने लगती है। डालों-पातों में, कूल-कछारों में, वनों में, बागों में- सब ओर वसंत अपने आप में एक उत्सव बनकर धरती पर आता है, जो आज भी प्रकृति से अपना रिश्ता बनाए हुए है। वे बिना कहे-सुने इसका अनुभव करते हैं वसंत के कई सरोकार हैं। यह वनस्पति एवं जीवशास्त्रियों की दृष्टि में अलग अर्थ रखता है, तो कृषकों के लिए अलग। सर्जकों और प्रकृति-प्रेमियों के लिए इसका अलग अर्थ है तो धर्मालुओं के लिए भिन्न। दृष्टि के अन्तर के बावजूद वसंत एक ही है। वह है- हमारी रागात्मक वृत्ति। वसंत अपनी मोहकता में सबको बाँधता है। विभिन्न कला एवं साहित्य रूपों में वसंत की मनोहारी अभिव्यक्ति की एक लंबी परम्परा मिलती है। प्रायः हर युग और धारा के कवियों ने इसका चित्रण किया है।

भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता के अन्यतम चितेरे रचनाकारों ने वसन्त और वाग्देवी सरस्वती का मनोहारी चित्रण अपनी कविताओं में किया है। निसर्ग वैभव के कवि कालिदास ऋतुसंहार में वसन्त के आगमन के साथ सब कुछ सुहावन - मनभावन हो जाने का चित्र उकेरते हैं। वे कहते हैं देखो वसन्त के आते ही सब वृक्ष फूलों से लद गए हैं, जल में कमल खिल गए हैं। स्त्रियाँ मदोन्मत्त हो गई हैं, वायु में सुगंध आने लग गई है। संध्याकाल सुहावना हो गया है और दिन लुभावने हो गए हैं। सचमुच सुन्दर वसन्त में सब कुछ सुहावना लगने लगता है।

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं

स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः

सुखा प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः

सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते।

पद्माकर पवन से पराग तक, वनों से बागों तक परिव्याप्त वसन्त की छटा का सरस वर्णन कुछ इस तरह करते हैं,

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में

क्यारिन में कलिन में कलीन किलकंत है।

कहे पद्माकर परागन में पौनहू में
पानन में पीक में पलासन पगंत है
द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में
देखौ दीप-दीपन में दीपत दिगंत है
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में
बनन में बागन में बगरयो बसंत है।

महाप्राण निराला का वाग्देवी सरस्वती और वसन्त से अनुराग अनूठा है। भारतीय साहित्य जगत में वसंत के अग्रदूत के रूप में चर्चित रहे हैं सूर्यकांत त्रिपाठी निराला। उन्होंने वाग्देवी सरस्वती और वसंत के कई रूपों की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में की है। उनके लिए ये दोनों सृजन के अजस्र प्रेरणा स्रोत और कई प्रकार के प्रतीकार्थों का संवहन करते हैं। सरस्वती निराला की आराध्या हैं तो वसंत उन्हें सर्वप्रिय ऋतु है।

निराला ने वाग्देवी की विविधमुखी महिमा को नए रूपों में विस्तार दिया है। निराला द्वारा सरस्वती की आराधना का तात्पर्य है रसानुभूति रूप सौंदर्य का अधिष्ठान करना। वसंत को प्रेम करने का अर्थ है नव सृजन और सौंदर्य को प्रेम करना। निराला का काव्य अलौकिक आनन्द रूप सौंदर्यानुभूति - रसानुभूति का काव्य है, जिसे वे अपने युग और चिंतन की अनुरूपता में नित नया रूप देते रहे।

वसंत न केवल निराला जी की सर्वाधिक प्रिय ऋतु है, उनका जन्म दिवस भी वसंत पंचमी को मनाया जाता है। महाप्राण निराला का जन्म वैसे तो माघ शुक्ल एकादशी, संवत् 1955 तदनुसार इक्कीस फरवरी 1899 ई. को हुआ था, लेकिन उन्होंने अपने निश्चय द्वारा वसंत पंचमी को अपना जन्म दिन घोषित किया। गंगा पुस्तकमाला के प्रकाशक दुलारेलाल भार्गव ने सन् 1930 ई. में वसंत पंचमी के दिन गंगा पुस्तकमाला का महोत्सव और अपना जन्मदिन मनाया। इस अवसर पर निराला ने उनका परिचय देते हुए निबंध पढ़ा। समालोचक रामविलास शर्मा बताते हैं कि "उन्होंने देखा कि दुलारेलाल भार्गव वसंत पंचमी को अपना जन्मदिवस मनाते हैं। उन्होंने निश्चय किया कि वह भी वसंत पंचमी को ही पैदा हुए थे। वसंत पंचमी सरस्वती पूजा का दिन, निराला सरस्वती के वरद पुत्र, वसंत पंचमी को न पैदा होते तो कब पैदा होते? नामकरण संस्कार से लेकर जन्मदिवस तक निराला ने अपना जन्म पत्र नए सिरे से लिख डाला।"

ठंड की लंबी रातें जैसे-जैसे छोटी होती हैं, धरती के भीतर की नई गंध, नए रंग लिए फूलों और पत्तियों का विकास होता है। ऐसे में निराला की प्रतिभा भी नये गीतों को रचने की प्रेरणा पाती थी। इसीलिए वसंत उनकी समूची काव्य यात्रा में बार-बार उभरकर सामने आता है। उनकी प्रिय ऋतु वसंत कई छवियों ओर अनुभूतियों को समेटती हुई जीवन और दर्शन को प्रतिफलित करती है। निराला के लिए वसंत आनन्द और उल्लास की ऋतु तो है ही, उनके जीवन के विविधरंगी अनुभवों को प्रतिबिम्बित करने वाली ऋतु भी है।

वाग्देवी सरस्वती की आराधना के पर्व वसन्त पंचमी पर निराला प्रकृति में व्याप्त नवता को जीवन के हर क्षेत्र में संचरित करने का आह्वान वीणावादिनी से करते हैं। 'वीणावादिनी वर दे' कविता को विख्यात संगीताचार्य पंडित

ओंकारनाथ ठाकुर ऋग्वेद के पश्चात सरस्वती की अभ्यर्थना में लिखी गई सर्वश्रेष्ठ रचना मानते थे। ज्ञान की देवी सरस्वती का आह्वान करती निराला की कविता क्रांति का स्वप्न देखती है। 'वर दे, वीणावादिनी वर दे' में निराला ने नये भारत के निर्माण का स्वप्न देखा। आजादी के बाद देश की अब तक की यात्रा को देखें, तो एक राष्ट्र के तौर पर भारत के लिए भी और राष्ट्र की इकाई के तौर पर प्रत्येक भारतवासी के लिए भी महाकवि की यह आकांक्षा आज भी अधूरी नज़र आ रही है। आज हम इतिहास के उस मोड़ पर खड़े हैं, जहाँ यह दायित्व हम पर है कि हम नये भारत के निर्माण की अधूरी रह गयी संकल्पना को साकार करें। निराला का नया भारत उनकी कविताओं में कई रूपों में स्पंदित हुआ है। रवींद्रनाथ टैगोर एक ऐसे देश का स्वप्न देखते हैं-

जहाँ दिमाग भय रहित है और सिर गर्व से ऊँचा है

जहाँ ज्ञान मुक्त है

जहाँ दुनिया संकीर्ण दीवारों से विखंडित नहीं हुई है

जहाँ शब्द, सच्चाई की गहराई से निकलते हैं

जहाँ अथक संघर्ष पूर्णता की ओर ले जाता है

जहाँ तर्क की धारा मृत रूढ़ियों में गुम नहीं हुई है

जहाँ दिमाग सतत विस्तार लेते विचार और क्रियाओं के सहारे आगे बढ़ता जाता है

हे परमपिता! स्वतंत्रता के उस स्वर्ग में मेरे देश को ले चलो।

टैगोर की महनीय कल्पना में रचा-बसा यह भारत मुक्त ज्ञान से ही संभव है। विद्या की सार्थकता मुक्ति में ही है, सा विद्या या विमुक्तये। टैगोर की कविता में जिस देश की कल्पना की गयी है, वह मुक्त करने वाले ज्ञान से ही सम्भव है। मुक्त करने वाला ज्ञान अर्थात समस्त प्रकार की रूढ़ियों से मुक्त करने वाला, असमानता के बंधन से मुक्त करने वाला ज्ञान। निराला पर टैगोर का गहरा प्रभाव है। ऐसे में यह अनायास नहीं है कि नये भारत के निर्माण के लिए निराला सरस्वती का आह्वान करते हैं,

वर दे, वीणावादिनी वर दे!

प्रिय स्वतंत्र, रव अमृत-मंत्र नव

भारत में भर दे।

काट अंध उर के बन्धन-स्तर

बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर

कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर

जगमग जग कर दे ।

नव गति, नव लय, ताल-छंद नव,

नवल कंठ नव जलद – मंद्र रव

नव नभ के नव विहग-वृन्द को

नव पर, नव स्वर दे। वीणावादिनी वर दें

उनका स्वर है, हे माँ! देश में स्वतंत्रता का अमृत मंत्र भर दो। देश में प्रकाश की ऐसी धारा बहा दो, जो सारी बुराइयों, पापों का नाश करने वाली हो। वे सरस्वती से देश की जड़ता भंग करने और देश में नई गति, नया ताल देने का आह्वान करते हैं। आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं, 'यहाँ स्वतंत्रता शब्द का इस्तेमाल बहुत

महत्वपूर्ण है। यह पहली बार है, जब ज्ञान को स्वतंत्रता से जोड़ा गया है। स्वतंत्रता बहुत व्यापक अवधारणा है, वह स्वयं ब्रह्म है। यह सब कुछ को अपने में समाहित कर लेती है।' यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या हमारे समाज में ऐसा ज्ञान मौजूद है? क्या यह ज्ञान हमें स्वतंत्र करता है? वस्तुतः बिना स्वतंत्र हुए किसी भी प्रकार की सर्जना संभव नहीं है। अपने लघु गीत 'वरद हुई शारदा जी हमारी/ पहनी वसंत की माला सँवारी' में वे वसन्त की सुषमा रूपी सुसज्जित माला पहन कर आई सरस्वती के वरदायी स्वरूप को प्रत्यक्ष करते हैं। यहाँ वह साक्षात् कल्याणमयी है, जो सब की आँखों में आकाश सी निर्मलता उमड़ा देती है, समस्त प्रकार के प्राणी जीवन का सुख लूटते हैं। वह सभी में उमंग की तरंग उत्पन्न कर देती है। वसंत की देवी सरस्वती का स्तवन उनकी कविता में बार-बार किया गया है। वे सरस्वती और मधुऋतु को सदा एक साथ देखते हैं-

अनगिनत आ गए शरण में जन, जननि,

सुरभि-सुमनावली खुली, मधुऋतु अवनि।

निराला वसंत की हर गति, हर लय, हर स्पन्दन में संगीत का अनुभव करते हैं। ऐसे ही लयपूर्ण अंदाज में उन्होंने 'वासंती' का आह्वान किया है।

अति ही मृदु गति ऋतुपति की

प्रिय सालों पर, प्रिय, आओ,

पिक के पावन पंचम में,

गाओ, वन्दन-ध्वनि गाओ।

प्रिय, नील-गगन-सागर तीर,

चिर, काट तिमिर के बन्धन,

उतरो जग में, उतरो फिर,

भर दो, पग-पग नव स्पन्दन।

वसन्त के समीर में भी उन्हें इसी प्रकार के संगीतमय प्रवाह की अनुभूति होती है-

आओ, आओ, नील सिन्धु की

कम्प, तरंगों से उठकर

पृथ्वी पर, वन की वीणा में

मृदु मर्मर भर मर्मर स्वर ।

भरो पुलक नव-प्रेम प्रकंपित

कामिनियों के नव तन में

खोलो नवल प्रात मुख ढक-ढक

अलख बादलों से क्षण में

निराला ने वसंतकालीन रात्रि को परी के रूप में व्यक्त किया है, जिसके आगमन की प्रतीक्षा में मनुष्य अपने कष्टों को भुलाए रहता है-

"आओ, आओ फिर, मेरे वसंत की परी-छवि-विभावरी,

सिहरो, स्वर से भर-भर अम्बर की सुन्दरी छवि-विभावरी !"

निराला सही अर्थों में वसंत के अग्रदूत की तरह साहित्य कानन में प्रविष्ट हुए थे, किंतु लंबे समय तक उन्हें उपेक्षा ही मिली। ऐसे में निराला ने हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र में वसंत के बहाने अपनी पीड़ा को व्यक्त किया है।

मैं जीर्ण साज बहु छिद्र आज,

तुम सुंदर सुरंग सुवास सुमन

मैं हूँ केवल पदतल-आसन,

तुम सहज विराजे महाराज ।

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि

मैं ही वसंत का अग्रदूत ।

निराला की कल्पना धरा के सौंदर्य से जुड़ी हुई है। वे यह देखते हैं कि वंसत के आगमन से चहुँ और व्यापी जड़ता और स्थिरता टूटती है और धरती पर अनन्त सौंदर्य आ जाता है, तब वे भी उसकी लय में डूबकर अपनी कविता को सार्थकता देते हैं। वसंत उनके लिए नवजीवन का संचार करता है। वे मृत्यु-भय से मुक्ति का अनुभव भी इसी ऋतु में पाते हैं।

अभी न होगा मेरा अंत

अभी-अभी ही तो आया है

मेरे वन में मृदुल वसंत-

अभी न होगा मेरा अन्त ।

हरे-हरे ये पात, डालियाँ, कलियाँ, कोमल गात ।

मैं ही अपना स्वप्न-मृदुल -कर फेरूँगा निद्रित कलियों पर

जगा एक प्रत्यूष मनोहर

अभी न होगा मेरा अन्त

वसंत के आते ही कोयल पंचम स्वर में गाने लगती है। उससे मनोरम वन गूँज उठते हैं, भौंरे बौरा जाते हैं, पत्तों का शरीर प्रमुदित हो उठता है। निराला तन्मयता के साथ इन बिम्बों को मूर्तिमंत करते हैं-

आज प्रथम गायी पिक पंचम

गूँजा है मरू विपिन मनोरम

मरुत-प्रवाह, कुसुम-तरु फूले,

बौर-बौर पर भौंरे भूले,

पात-गात के प्रमुदित झूले,

दायी सुरभि चतुर्दिक उत्तम ।

वसंत के माध्यम से निराला ने मानव मन की सूक्ष्म और कोमल भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति भी की है। तरू के साथ नव यौवन लतिका का मिलन उनके यहाँ मोहक प्रभाव छोड़ता है-

सखी, वसंत आया

भरा हर्ष वन के मन

नवोत्कर्ष छाया। सखी, वसंत आया।

किसलय-वसना नव-नव-लतिका

मिली मधुर प्रिय-कर-तरु-पतिका

मधुप-वृन्द बन्दी-

पिक-स्वर भी सरसाया। सखि, वसंत आया।

धरती स्वयं वसंत के आगमन से नूतन सौंदर्य को पाकर धन्यता का अनुभव करती हे, ऐसे में निराला लिखते हैं:

रँग गई पग-पग धन्य धरा,

वर्ण गन्ध धर, मधु-मरन्द भर,

तरु-उर की अरुणिमा तरुणतर

खुली रूप-कलियों में पर भर

स्तर स्तर सुपरिसरा।

रँग गई पग-पग धन्य धरा।

गूँज उठा पिक-पावन पंचम,

खग-कुल-कलरव मृदुल मनोरम,
सुख के भय काँपती प्रणय- क्लम
वन श्री चारुतरा।
रँग गई पग-पग धन्य धरा।

निराला ने वसंत की माला से शारदा के श्रृंगार, होली जैसे पर्व के माध्यम से राष्ट्र-प्रेम की अभिव्यक्ति और वसंत से उपजे मुक्ति के वैविध्यपूर्ण अनुभवों को अपनी कविताओं में मर्ममधुर स्वर दिये हैं। वसंत प्रेम और यौवन की भी ऋतु है। निराला उसके इस रूप को भी कविता में व्यक्त करते हैं-

हँसी के तार होते हैं ये बहार के दिन ।
हृदय के हार के होते हैं ये बहार के दिन।
नवीनता की आँखें चार जो हुई उनसे,
कहा कि प्यार के होते हैं ये बहार के दिन।

आए महंत वसंत कविता के माध्यम से सर्वेश्वरदयाल सक्सेना एक सुंदर रूपक के जरिए वसन्त की महिमाशाली आमद को जीवंत करते हैं, जहां प्रकृति का कण कण आनंदविभोर दिखाई देता है-

मखमल के झूले पड़े हाथी-सा टीला
बैठे किंशुक छत्र लगा बाँध पाग पीला
चंवर सदृश डोल रहे सरसों के सर अनंत
आए महंत वसंत
श्रद्धानत तरुओं की अंजलि से झरे पात
कोंपल के मुँदे नयन थर-थर-थर पुलक गात
अगरु धूम लिए घूम रहे सुमन दिग-दिगंत
आए महंत वसंत
खड़ खड़ खड़ताल बजा नाच रही बिसुध हवा
डाल डाल अलि पिक के गायन का बँधा समा
तरु तरु की ध्वजा उठी जय जय का है न अंत
आए महंत वसंत

केदारनाथ अग्रवाल बसन्ती हवा कविता के माध्यम से समस्त प्राणियों को प्रेम आसव पिलाने में रत वासन्ती वायु की गति और लय को पकड़ते हैं।

हवा हूँ, हवा, मैं बसंती हवा हूँ!
वही हाँ, वही जो युगों से गगन को
बिना कष्ट-श्रम के सम्हाले हुए हूँ;
हवा हूँ, हवा, मैं बसंती हवा हूँ।
वही हाँ, वही जो धरा का बसन्ती
सुसंगीत मीठा गुँजाती फिरी हूँ;
हवा हूँ, हवा, मैं बसंती हवा हूँ।
वही हाँ, वही, जो सभी प्राणियों को
पिला प्रेम-आसव जिलाए हुए हूँ,
हवा हूँ, हवा मैं बसंती हवा हूँ।

वस्तुतः वाग्देवी सरस्वती, वसन्त पंचमी और वसंत के विविध रूपों का अर्थपूर्ण अंकन भारतीय शास्त्रों और साहित्य को वैशिष्ट्य देती है। आधुनिक युग के कवियों जैसे निराला के लिए वाग्देवी की आराधना आत्मोन्नति से ज्यादा सार्वजनीन प्रगति के लिए है, जो हमारे समस्त प्रकार के कलुष, अंधकार, बंधन और जड़ता को मिटा कर जीवन को शुभ्र, आलोकमय, मुक्त और गतिमय बना दे। वाग्देवी की उपासना और वसन्त के मर्म मधुर अंकन के विविध स्वर आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं।

*****

उत्तराखंड की कुमाँऊनी होली

सीमा तोमर,
88 डी, कमला नगर,
दिल्ली 110007

होली विभिन्न राज्यों में पृथक पृथक ढंग से मनाया जाने वाला पारस्परिक सौहार्द से परिपूर्ण रंगों का त्यौहार है। इसमें अबीर गुलाल के साथ नृत्य गायन का भी विशेष महत्व होता है। माना जाता है कि इस उत्सव की शुरुआत बुंदेलखंड के झांसी के **'एरच'** में हुई थी जो कभी हिरणयकश्यप की राजधानी हुआ करती थी। होली का उत्सव बसंत के माधुर्य एवं प्रकृति में नवजीवन के प्रारंभ का प्रतिनिधित्व करता है। राग, रंग और संगीत इस त्यौहार के प्रमुख अंग हैं। यद्यपि देश भर में ब्रज की होली बहुत प्रसिद्ध है तथापि उत्तराखंड की होली भी अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण खूब प्रसिद्ध है । होली की धूम सिर्फ मथुरा, वृंदावन में ही नहीं अपितु पहाड़ों पर भी खूब रहती है हालांकि यहां होली का स्वरूप कुछ परिवर्तित हो जाता है। उत्तराखंड में बैठकी व खड़ी होली का प्रचलन है। कुमाऊंनी संस्कृति में बैठकी होली को बहुत महत्वपूर्ण एवं विशेष स्थान प्राप्त है। अल्मोड़ा की बैठकी होली तो विश्व प्रसिद्ध है।

कुमाऊं की होली की अपनी एक अलग सांस्कृतिक पहचान है। कुमाऊं अंचल में यह पर्व एक समृद्ध आयाम प्रस्तुत करता है। कुमाऊंनी होली प्राचीन शास्त्रीय संगीत परंपरा से संबंधित है। होली खेलने से पूर्व ही शास्त्रीय राग होली को अपना माधुर्य प्रदान कर देते हैं। शरद ऋतु की जड़ता और आलस के बाद जब, वसंत की स्फूर्ति और माधुर्य वातावरण में छाता है तो, प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों से आच्छादित हो जाती है और पूरे हर्षोल्लास के साथ फागुन का आगमन होता है। प्रकृति का यह उल्लास कुमाऊंनी होली के उत्साह में स्पष्ट परिलक्षित होता है। कुमाऊंनी होली लय, सुर, ताल और संगीत का पर्व है। उत्तराखंड के कुमाऊं क्षेत्र को राज्य की समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर का क्षेत्र माना जाता है। अल्मोड़ा और नैनीताल तो मानो राजनीतिक व सांस्कृतिक राजधानियां ही हैं।

स्वयं में संगीत की विशिष्ट परंपराओं को समाहित किए हुए, अल्मोड़ा की बैठकी होली की परंपरा लगभग 150 वर्ष पुरानी है। शरद ऋतु में पौष माह में जब ठंड अपने चरम पर होती है तब पौष के प्रथम रविवार से यह होली प्रारंभ होती है जो अपने मोहक सुरीले एवं जोशीले संगीत से वातावरण में सुरों की गर्माहट भर देती है। इस समय उत्तराखंड के मंदिर परिसरों में, चौपालों में, घरों के आंगन में, गीत घरों में

संगीत की महफिलें जमती है जो पौष की लंबी सर्द रातों को रोशन कर देती है। बैठकी होली ब्रज में खेली जाने वाली होली के बाद देश की सर्वाधिक प्रसिद्ध होली है।

पौष के प्रथम रविवार से कुमाऊं में विष्णुपदी होली का गायन प्रारंभ हो जाता है। राग और तालों पर आधारित इस होली में श्रृंगार रस, भक्ति रस और आध्यात्मिकता आदि अनेक रंग देखने को मिलते हैं। कुमाऊंनी होली की तीन विधाएं हैं--

- बैठकी होली
- खड़ी होली
- महिला होली

बैठकी होली :-

बैठकर गाई जाने वाली होली 'बैठकी होली' कहलाती है। बैठकी होली में शास्त्रीय संगीत पर आधारित होली गीतों के गायन व श्रवण की परंपरा है। बैठकी होली रागों से पर्व को मनाने का बहुत अनूठा एवं सुरीला प्रकार है। इसमें सभी कलाकार भरपूर उमंग के साथ सामूहिक रूप से होली के पारंपरिक गीत गाते हैं। गीत गाने वाले इन कलाकारों को *होल्यार* कहते हैं। ये लोकगीत कुमाऊंनी, ब्रज व हिंदी भाषा में गाए जाते हैं। उत्तराखंड के चंपावत पिथौरागढ़, अल्मोड़ा एवं नैनीताल आदि जिलों में बैठकी होली बहुत ही प्रसिद्ध है। यह होली नागरी होली के नाम से भी जानी जाती है।

यद्यपि प्रत्येक क्षेत्र में होली के अवसर पर लोकगीत गाए जाते हैं और इनका अपना विशेष महत्व भी होता है किंतु विभिन्न रागों पर आधारित होली गीत एवं शास्त्रीय संगीत कुमाऊं की बैठकी होली को एक अत्यंत विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं। उत्तराखंड क्षेत्र में होली की बैठकों का आयोजन होता है जिनमें अनेक राग क्रमवार गाए जाते हैं। बैठकों में मुख्यतः पुरुष वर्ग सम्मिलित होता है। पौष के प्रथम रविवार को गणेश वंदना के साथ इसका शुभारंभ होता है। बसंत पंचमी से महाशिवरात्रि के एक दिन पूर्व तक श्रृंगारिक होली गायन होता है। महाशिवरात्रि से शिव की होली व हंसी ठिठोली युक्त गीतों का गायन आरंभ होता है।

बैठकी होली को 'निर्वाण होली' भी कहते हैं। इसमें स्वामी ब्रहमानंद द्वारा लिखी गई कुछ होलियां भी गाई जाती हैं जिन्हें, लोग ब्रहमानंद की होली कहते हैं। शिवरात्रि में शिव-पदी होली पर विशेष ध्यान दिया जाता है। बसंत पंचमी से फागुन पूर्णिमा तक यह पर्व चलता है। इसी दौरान शिवरात्रि आती है तो शिव पार्वती से जुड़े प्रसंगों पर भी होली गाई जाती है। अधिकांश होली राधा कृष्ण, राम सीता, शिव पार्वती के जीवन प्रसंगों से संबंधित होती हैं। होली गीतों की यही आध्यात्मिक प्रवृत्ति बैठकी होली को *'निर्वाण होली'* बना देती है। इसे मोक्ष की होली भी कहते हैं। बैठकी होली पौष काल से प्रारंभ तो हो जाती है लेकिन इसका वास्तविक उत्सव

फरवरी मार्च में ही आरंभ होता है। धुलैंडी के एक सप्ताह पहले तो यह पर्व अपने पूर्ण यौवन पर होता है। बसंत आगमन का पर्व मनाने के लिए खड़े होकर भी नृत्य किया जाता है।

मान्यता है कि पूस की बेहद सर्द एवं लंबी रातों को व्यतीत करने के लिए लोग रात भर बैठकर होली गाते हैं। हल्द्वानी आदि कई क्षेत्रों में आज भी यही वातावरण पाया जाता है। जहां ठंडी रातों में हारमोनियम व तबला की थापों पर आधारित सुरीली होली गाई जाती है। होली में भाग लेने वाला मुख्य कलाकार गीतों का मुखड़ा गाता है और श्रोता होल्यार बीच-बीच में साथ देते हैं जिसे *'भाग लगाना'* कहते हैं। शिवरात्रि तक होली बिना रंगों के सिर्फ संगीत के साथ मनाई जाती है। अनेक संगीत प्रेमी अपने घरों में शास्त्रीय रागों पर आधारित बैठकी होली के गायन का आयोजन करते हैं। इस होली में न केवल हिंदू अपितु मुस्लिम भी उत्साह पूर्वक भाग लेते हैं यही इस होली की खूबसूरत और खास बात है। बैठकी होली शास्त्रीय संगीत एवं रागों पर आधारित होते हुए भी लोक मानस में भली भांति रची-बसी है। बैठक में बैठा प्रत्येक व्यक्ति उसमें 'भाग' लगा सकता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को गायक व कलाकार मानता है। गायक व श्रोता के बीच में कोई दूरी नहीं होती। इस पर्व का यही सौंदर्य इस होली की परम्परा को जीवंतता प्रदान करता है।

खड़ी होली :-

खड़े होकर सामूहिक नृत्य के साथ चौराहों, चौबारों में गाई जाने वाली होली 'खड़ी होली' कहलाती है। इसका प्रचलन ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक है। खड़ी होली ठेठ गांव की सामूहिक अभिव्यक्ति कही जा सकती है। इस होली में रागों का उतना महत्व नहीं होता। यह होली अर्ध-शास्त्रीय परंपरा में गाई जाती है। मुख्य होल्यार होली के मुखड़े गाता है तथा अन्य होल्यार उसके चारों ओर खड़े होकर एक बड़े घेरे में उस मुखड़े को दोहराते हैं। ढोल, नगाड़े, नरसिंह से संगीत दिया जाता है। इसी घेरे में कदमों को मिलाकर नृत्य भी किया जाता है। यह एक पृथक स्थानीय शैली है जिसकी लय भिन्न-भिन्न घाटियों में अपनी अलग विशेषता व विभिन्नता लिए हुए होती है। वास्तव में खड़ी होली गांव की संस्कृति का प्रतीक है। खड़ी होली का आयोजन मुख्यतः गांव के मुखिया के आंगन में होता है। यह आमलकी एकादशी के दिन, गांव के मुखिया के आंगन में या मंदिर में, चीर बंधन की प्रथा के साथ आरंभ होती है। द्वादशी, त्रयोदशी को यह होली ढ़ोल नगाड़ों के साथ गांव के हर मवास के आंगन में होली गीत सुनाने और आशीर्वाद देने पहुंच जाती है। घर का स्वामी श्रद्धा के अनुसार गुड, आलू, मिष्ठान आदि देकर उनका स्वागत करता है। चतुर्दशी के दिन मंदिरों में होली पहुंचती है और वही खेली भी जाती है। चतुर्दशी और पूर्णिमा को होली का

दहन होता है। यहां कुमाऊं अंचल में प्रत्येक गांव में सार्वजनिक स्थान पर चीर दहन होता है। अगले दिन छलड़ी यानी गीले रंगों से होली खेली जाती है।

महिला होली :-

महिलाओं की होली बसंत पंचमी के दिन से प्रारंभ होकर दूसरे दिन टीके तक प्रचलित रहती है। यह होली आमतौर पर बैठकी होली ही होती है। ढोलक और मंजीरा इसके मुख्य वाद्य यंत्र होते हैं। इसे महिलाएं अपने मित्र समाज के साथ मिलजुल कर संपन्न करती हैं। घरों के अंदर ढोल, मंजीरे की संगत में गायन और नृत्य चलता है। कुमाऊं क्षेत्र में होली के दिनों में प्राय: स्थान-स्थान पर महिलाओं की बैठक में होली गायन देखने को मिल जाता है। 'महिलाओं की होली', शास्त्रीय, स्थानीय और फिल्मी गानों के विभिन्न रंगों को समेट कर उनके फ्यूजन से नित नया रूप प्राप्त करती रहती है। महिलाओं की बैठकी होली में स्वांग और ठठेर अधिक प्रचलित है। ढोलक की ताल पर खुले आकाश के नीचे अनेक महिलाएं घेरे में घूम कर होली के गीत गाती है।

कुमाँऊनी होली का यह त्यौहार बैठकों में राग रागनियों के साथ मनाया जाता है। इस दिन लोग मीराबाई से लेकर बहादुर शाह जफर तक की रचनाएं सुनाते हैं। 'मुबारक हो मंजरी फूलों भरी' या 'ऐसी होली खेले जनाबे अली' जैसी प्रसिद्ध ठुमरियां गाई जाती हैं। 'थोड़ा' की बैठकी होली तो बहुत प्रसिद्ध है।

शास्त्रीय संगीत से उपजी कुमाऊं की बैठकी होली के स्वरूप को आकार देने में उस्ताद अमानत अली हुसैन का नाम अग्रगण्य है। तत्कालीन प्रख्यात शास्त्रीय संगीत गायक अमानत अली हुसैन और ठुमरी गायिका रामप्यारी अपनी गायकी को लेकर यहां आए थे। तब उस समय में अल्मोड़ा के अनेक संगीत प्रेमी इस संगीत को सीख कर गाने लगे और इस प्रकार उस समय से शास्त्रीय संगीत पर आधारित इस अनोखी परंपरा का शुभारंभ हुआ। 1850 से होली की बैठक नियमित रूप से होने लगी तथा 1870 से वार्षिक समारोह के रूप में इसे मनाया जाने लगा।

कुमाऊं में प्रचलित होली गीतों की शैली पर्वतीय तो हो गई किंतु इनकी भाषा में कुमाऊंनी गढ़वाली तथा अन्य स्थानीय बोली के शब्दों का अभाव ही रहा। आज भी अधिकांश होली गीत ब्रज, भोजपुरी, अवधी भाषा में ही है। कुमाऊं और दरभंगा की होली में परस्पर एक अनोखा सामंजस्य दिखाई पड़ता है। कन्नौज और रामपुर की गायकी का प्रभाव भी बैठकी होली पर दृष्टिगोचर होता है। उस्ताद अमानत अली हुसैन ने होली गायकी को ठुमरी के रूप में 16 मात्राओं में पिरोया। बैठकी होली में प्रयुक्त होने वाली चांचर ताल का आरंभ भी उस्ताद अमानत अली

हुसैन ने ही किया था। *इसलिए उन्हें शास्त्रीय कुमाऊंनी होली, 'बैठकी होली' का जनक माना जाता है।* इसमें अन्य उस्तादों एवं पेशेवर गायकों का योगदान भी रहा है। मुगल गायकों व कलाकारों को भी यह होली रिझा गई और उन्होंने भी गाया - 'किसी मस्त के आने की आरजू है........।' इसी प्रकार एक रचना में लखनऊ के बादशाह और केसर बाग का जिक्र भी आता है जिसे अधिकतर राग काफिया में गाया जाता है। ब्रजमंडल की रास मंडलियों के आवागमन से यहां की होली समृद्ध होती चली गई। इसलिए खड़ी बोली और ब्रजभाषा का प्रभाव कुमाऊंनी होली पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

कुमाऊंनी होली में गायन की जो परंपरा बनी वह बहुत सुदृढ़ है। होली के लोकगीत स्थानीय लोगों द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी गाए जाते रहे हैं। अतः इनके रचयिताओं का ठीक से पता नहीं चलता फिर भी कुछ उन होली गीत रचयिताओं के विषय में थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है जिन्होंने होली गीत रचे। इन रचयिताओं में पहला नाम *पंडित गुमानी पंत* का आता है। इनकी एक प्रसिद्द रचना जो प्राय: राग श्याम कल्याण में सुनाई जाती है इस प्रकार है-

मुरली नागिन सों, वंशी नागिन सों,

केहि विधि फाग रचायो, मोहन मन लीनो।।मुरली.....

बृज बांवरो मोसे बांवरी कहत हैं, अब हम जानी बांवरो भयो नंदलाल। मोहन ०

सूरन के प्रभु गिरिधर नागर, कहत 'गुमानी' दरस तिहारो पाया।। मोहन ०

श्री चारु चंद्र पांडेय ने भी बैठकी होली के लिए कई रचनाएं लिखी। उनकी बैठकी होली पहाड़ी संस्कृति से प्रभावित है। उनकी रचनाएं भी बहुत लोकप्रिय हैं जैसे--

मनसुख लाओ मृदंग नाचे चंद्रावली पग बांध घुंघरुवा।

ताल पखावज बाजन लगे अरु डफली मुरचंग

'चारू' प्रिया संग श्याम सुंदर पर बरसाओ नवरंग।।

इसी प्रकार कोटद्वार निवासी *श्री महेशानंद गौड़* की होली रचनाएं भी बहुत लोकप्रिय हैं। अधिकांश प्रचलित होली गीत रचयिताओं का पता ही नहीं है। अक्सर गायको को पता ही नहीं होता कि वह किसकी रचना गा रहे हैं। बैठकी होली में राग काफिया पर सर्वाधिक रचनाएं गाई जाती हैं जिसमें भक्ति भाव से लेकर श्रृंगार तक की रचनाएं शामिल हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य है-

किन मारी पिचकारी, मैं तो भीज गई सारी

जाने भिगोई मेरे सन्मुख लाओ, नाहीं मैं दूंगी गारी।

बैठकी होली में विविध रागों पर होली गीत गाए जाते हैं किंतु प्रयोग में इनमें ठुमरी की भांति शुद्धता का बंधन नहीं है। यद्यपि काफी, खमाज, देश, भैरवी के स्वरों से रागों का साफ साफ पता चल जाता है कि अमुक राग पर आधारित होली गीत गाया जा रहा है। इसमें राग धमार, राग काफिया, राग पीलू, भैरवी, देश, बागेश्वरी, जंगला काफिया, जैजैवंती, कल्याण आदि प्रमुख राग है। रागों पर आधारित कुछ प्रचलित होली गीत इस प्रकार हैं -

बैठकी होली में समयानुसार राग, रागनियों का प्रयोग किया जाता है। जैसे दोपहर के समय राग पीलू, भीमपलासी, सारंग आदि राग गाए जाते हैं तो, कल्याण, श्याम कल्याण, जैजैवंती और राग काफिया, राग यमन जैसे रागों का गायन शाम को किया जाता है। इन धुनों की प्रस्तुति में खास विशेषता होती है। जंगला काफिया तो कुमाऊंनी होली का अद्वितीय राग है। इसमें प्रयुक्त होने वाली ताल भी अद्वितीय है। धमार ताल में 14 के स्थान पर 16 मात्राएं होती हैं। दूसरा सबसे अधिक प्रसिद्ध ताल चांचर के नाम से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त तीन ताल और कहरवा का भी व्यापक प्रयोग होता है। कभी-कभी दादर का प्रयोग भी किया।

अल्मोड़ा, द्वाराहाट, बागेश्वर, गंगोलीहाट, पिथौरागढ़, पाटी, चंपावत, नैनीताल कुमाऊनी संस्कृति के केंद्र रहे हैं यहां के सामाजिक ताने-बाने में वह तत्व सम्मिलित है जो, उन्हें संस्कृतिक रूप से महत्वपूर्ण बनाते हैं। संस्कृति ही समाज को स्थाई रूप से समृद्ध बनाती है और बैठकी होली उत्तराखंड के सामाजिक व सांस्कृतिक ताने -बाने में गहरे पैठी है। उत्तराखंड की लोक संस्कृति में बैठकी होली का अपना एक विशेष एवं महत्वपूर्ण स्थान है। ***शास्त्रीय संगीत पर आधारित बैठकी होली, महिलाओं की होली और ग्राम्य अंचल की महक समेटे खड़ी होली उत्तराखंड की सांस्कृतिक पहचान बन गई है।***

कुमाऊं की बैठकी व खड़ी होली को घर-घर पहुंचने का कार्य युवा होल्यार कर रहे हैं। यह टोली पहाड़ी परिधान, रीति रिवाज, पारंपरिक वाद्य यंत्रों के साथ होली की प्रस्तुति देती है जिससे कुमाऊंनी होली की यह समर्थ परंपरा और भी अधिक समृद्ध होकर निखर सके। कुमाऊनी होली उत्तराखंड की एक समृद्ध परंपरा है। आज भी गांव और मोहल्ले में होल्यार राग और फाग में मस्त दिखाई पड़ते हैं। उत्तराखंड में होली का एक पृथक व मोहक रंग देखने को मिलता है। होली के त्यौहार की अपनी आंचलिकता भी होती है जिसकी छाप कुमाऊंनी होली में स्पष्ट दिखाई देती है। कुमाऊंनी होली की सामर्थ परंपरा का यहां के लोकजीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार उत्तराखंड की कुमाऊंनी होली अपनी विशिष्ट अनूठी सांस्कृतिक पहचान के साथ देश ही नहीं अपितु विश्वभर में प्रसिद्ध है।

*****

लोक जीवन को दर्शाती हिमाचली कहावतें

प्रवीण कुमार सहगल,
डी-1209 डबुआ कालोनी,
फरीदाबाद, (हरियाणा)

कहावतों को लोकोक्ति भी कहा जाता है। अर्थात् लोक में प्रचलित वह उक्ति जो सही मार्गदर्शन दे और एक दर्पण का काम करे। लोकोक्तियों का विश्वव्यापी चलन है। यह सूक्ष्म मर्म को स्पर्श करती हैं। इनमें उपमा दी जाती है। इनका मुख्य उद्देश्य लोक हित होता है। शास्त्रकारों ने इन्हें सूक्ति भी कहा है। मातृ भाषा में सृजित, समाज में बेहतर ढंग से जीने के लिए कहावतें प्रेरणा का काम करती हैं। लोक साहित्य में लोक कहावतें समाज का अभिन्न अंग हैं। ये सदैव लोक जीवन से जुड़ी रहने के कारण लोक मानस के साथ-साथ लोकसाहित्यकार, चाहे वह किसी भी विधा का पुरोधा रहा हो, उसके लेखन में इनका उपयोग होने से वह विधा अलंकृत हो जाती है। लोक कहावतें समाज के सूक्ष्म भावों को बड़ी स्पष्टता, तीव्रता एवं व्यंग्यात्मकता के साथ प्रकट करती हैं। समाज को शिक्षा व उलाहना देना इन्हीं लोक कहावतों का कार्य है। प्रत्येक क्षेत्र के भाव बोधों को उजागर करती हुई, उस समाज की समस्त परंपराओं में कहावतें जुड़ी रहती हैं। यही कारण है कि लोकसाहित्यकार भी इन्हें अपने लेखन से जुदा नहीं कर पाते हैं।

हिमाचल में कहावतों का अक्षुण्ण भंडार बिखरा पड़ा है। जब-तब लोग कहावतों का संदर्भ देते हैं, बात-बात में कहावत के माध्यम से अपनी बात कहते हैं। कुलुई में इन्हें पुआम, बखाण, चंबयाली और कांगड़ी में नवाण, दृष्टांत, मण्डियाली में सयाण बोल, बिलासपुर में खुआने या खुआणे, शिमला-सोलन की महासुई तथा सिरमौरी बोली में पखनाणे, नैणा, नयाणा और किन्नौर में स्यानो चीठी कहा जाता है। हिमाचली कहावतों में लोकजीवन के अनुभव, नीति विज्ञान के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। नीति वाक्य के साथ इनमें लोकमान्यताएं, लोकविश्वास, लोकप्रभाव भी छुपे रहते हैं। इनमें जीवन के सत्य बखूबी चित्रित रहते हैं। ये कहावतें पहाड़ी समाज की मानसिकता भी बताती हैं, समय-समय पर नसीहत भी देती हैं और असल बात भी समझाती हैं। इनमें स्त्री पुरूष के चरित्र, स्वभाव, मिलन-विरह का चित्रण बखूबी देखने को मिलता है। इनमें पारिवारिक परिस्थितियों का रोचक वर्णन भी रहता है। गाय-भैंस, भेड़-बकरी, कुत्ते-बिल्ली, कौआ-चमगादड़, तोता-मैना, मोर-चकोर आदि पशु-पक्षियों तथा चींटी-सांप, पिस्सू-खटमल आदि कीड़ों-मकोड़ों पुश-पिक्षयों आदि से जुड़े बहुत से आख्यान इन कहावतों में देखने को मिलते हैं। वस्त्र आभूषणों का प्रयोग व रहन-सहन भी कहावतों के माध्यम से प्रदेश की संस्कृति से रूबरू करवाते हैं। ये कहावतें बेहतर जीवन जीने की प्रेरणा तो देती ही हैं, इसके साथ-साथ आत्ममंथन तथा बेहतर व संतुष्ट जीवन जीने का ढंग भी बताती हैं।

हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक परम्परा में कहावतों का विशेष स्थान है। हिमाचल प्रदेश की लोक संस्कृति बहुत समृद्ध है। आधुनिक जीवन की चकाचौंध में भी हिमाचल की लोक संस्कृति, परम्पराएं अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। हिमाचली लोक संस्कृति की संपूर्ण कहानी को जानने और व्यवहारिक रूप को देखने के लिए पहाड़ी लोगों के जनजीवन, विशेषकर यहां के श्रेष्ठ लोक गीतों, लोकनृत्यों, मिथकों, पौराणिक कथाओं, चित्रकला, वास्तुकला, लोकोक्तियों, कहावतों, लोककथाओं, लोकविश्वासों, लोक परम्पराओं, रीति-रिवाजों, प्राचीन स्मृतियों और इतिहास को देखना होगा ।

हिमाचल प्रदेश की कुल जनसंख्या का लगभग 90 प्रतिशत भाग ग्रामों में बसता है। प्रदेश की मुख्य संस्कृति ग्राम्य संस्कृति है। ग्रामीण जीवन में, दैनिक जीवन में कहावतों, लोकोक्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न पक्षों पर ये प्रचलित हैं। कुछ प्रसिद्ध हिमाचली कहावतें निम्न रूप में प्रस्तुत हैं।

1. चूहे दी शूं शड़क
   बिल्लिया दी इको ही मत्त

चंचल स्वभाव वाले व्यक्ति को हानि होती है। लक्ष्य की ओर केंद्रित व्यक्ति चुपचाप इसकी ओर बढ़ता जाता है। स्वभाव में ठहराव होना अति आवश्यक है।

2. भुक्खे दी धी रज्जी
   खेह् उडाणे लग्गी

जब किसी व्यक्ति के पास आवश्यकता से अधिक वस्तु, धन आ जाता है तो वह उसका दुरुपयोग करने लगता है। वस्तु की अधिकता से उसका महत्व कम हो जाता है।

3. चलदेआं कने वण भजदे
   छाही जो लोकां दे जांदे

अपने आप सब कुछ होते हुए भी कुछ लोग यही रोना रोते रहते हैं कि उनके पास कुछ नहीं। सक्षम होते हुए भी दूसरों पर निर्भर रहते हैं।

4. जुलाहया करे नली-नली
   खुदा करे परकाले

भगवान को याद रखना चाहिए। सांसारिक कार्यों में पड़कर उसे भूलना मनुष्य की गलती है। कब, क्या हो जाए इसका पता केवल भगवान को है।

5. हड्डों खुड्डों रही
   राम जपण बही

जब व्यक्ति शारीरिक रूप से सक्षम होता है वह स्वयं को भगवान समझता है। जब शारीरिक बल खत्म होता है तब उसे भगवान की याद आने लगती है। यह मनुष्य का स्वभाव है।

6. रिनदी खावां पकांदी खावां
   फिरी घर देयां ने अध्ध वंडावां

अपना हिस्सा/भाग ले लेने के पश्चात् भी दूसरे के हिस्से पर आंख रखना।

7. घर दे चाल चलण चलाणे
   खोल परांदे बंधन पाणे

गृहस्थी को चलाने के लिए कई प्रकार का त्याग करना पड़ता है। घर की जिम्मेदारियों के लिए समझदार बनना पड़ता है। स्वभाव में स्थिरता का होना आवश्यक है। सोच में, आदत में परिवर्तन लाने से ही गृहस्थी चल सकती है।

8. दूर जाइए तां वियोगे मरीये
नेड़े आइए तां साड़े सड़ीये

यह मनुष्य की प्रकृति है किसी इन्सान के दूर जाने पर ही उसके महत्त्व का अनुभव होता है। पास रहने पर उसकी परवाह कम हो जाती है।

9. गां नीं बच्छी,
निंद आवे अच्छी

जिसके सिर पर कोई जिम्मेदारी नहीं, वह तनाव रहित जिंदगी जीता है।

10. तालीया जो करना कुतु कुतु
तालीया जो अपी करी लैणा बुतु

अपना काम स्वयं करना श्रेयस्कर है। दूसरों पर निर्भर रहने से काम का होना या न होना निश्चित् नहीं है।

11. घियो सट्ठे,
दुध अट्ठे

दूध का असर शरीर पर देसी घी की अपेक्षा जल्दी पड़ता है। इसीलिए बच्चों को दूध पीने के लिए कहा जाता है। दूध स्वयं में एक संपूर्ण आहार माना गया है।

12. मुंह मकोड़ुआं दे,
पेट घोड़ुआं दे

किसी के आकार को देखकर उसकी क्षमता का आंकलन नहीं करना चाहिए।

13. मिट्ठी सीरी,
मुल्ख जगीरी

मीठे वचन बोलने से ही व्यक्ति को संसार में आदर मिल सकता है। व्यक्ति को मृदु भाषी होना चाहिए।

14. पंजां पा दियां, पंज पकावां
ढाई सेरां दीआं इक
इनी जवान मरन्दे
पंजे खाई लियां मैं वचारिए इक

दूसरों की अपेक्षा अपने आप को भोला बताना। दूसरा व्यक्ति अधिक चतुर है, जबकि मैं सीधा सादा हूँ।

15. जैसे माए
वैसे जाए

माता पिता का प्रभाव बच्चों पर पड़ना स्वाभाविक है। घर का माहौल बच्चों के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालता है।

16. पहले बेटड़ा
फिर पेटड़ा

मां बनने के पश्चात् कुछ महीने स्त्री को बच्चे को ध्यान में रखकर खाना-पीना होता है। जैसा मां खाएगी वैसा प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। स्वाद की अपेक्षा स्वास्थ्य-वर्द्धक वस्तुओं को प्राथमिकता देनी चाहिए।

17. दौड़े-दौड़े जाइए
जो करमे होए सै खाइए

मेहनत के साथ-साथ किस्मत/भाग्य का होना भी जरूरी है।

18. अट्ठ रोटियां हल खांदी
नौ रोटियां खांदी कही
इक रोटी सै खाए
जिहड़ा दुकानां रहे बही

अधिक परिश्रम करने वाला ज्यादा खाना खाएगा तो उसके लिए अच्छा होगा, जबकि जिसका काम बैठकर करने वाला है उसे कम ही खाना चाहिए।

19. धीया दे खरचे गिणीए
 जवाईया जो काठ मारिए

लड़की वाले अपनी लड़की की ज्यादा परवाह करते हैं, दामाद को कम महत्व देते हैं।

20. दाल भात तुम्हारा
 आदर हमारा

सम्मान हम करेंगे बाकी सब आप स्वयं प्रबंध कर लेना।

21. होछे जो दित्ता गोछा
 तिनि फाड़ी छड्डया

अयोग्य व्यक्ति कभी भी किसी जिम्मेदारी को अच्छी तरह नहीं निभाएगा। उल्टा नुकसान ही करेगा।

22. अग्गी दे मारू दे
 गार ही गुलणे

जब कोई व्यक्ति किसी को सताता है, अत्याचार करता है तो उस व्यक्ति के मुँह से शोषक के लिए कड़वे बोल ही निकलेंगे।

23. वड्डा टिक्का, छोटा पियारा
 गबले दा कुदियाड़ा

मंझला बच्चा अपने आप को उपेक्षित समझता है। घर में सबसे बड़े और छोटे बच्चे का महत्व उसके अनुसार अधिक हो जाता है।

24. बल्ले ओ, करमां दे बलीया
 पीहणा था आटा, बणी गया दलिया

जब सोचा कुछ और जाता है और हो कुछ और जाता है तो ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है।

25. भेडे तेरे
 मूहां गेडे

इन्सान द्वारा किए गए कर्म का परिणाम उसके सामने आ ही जाता है।

26. घर लगया राजे रसालुआ दा
 कने सिरा खलारे छज्जी

परिश्रम किसी ने किया, धन, समय किसी ने लगाया, जबकि श्रेय कोई और लेने का प्रयास करे।

27. जां तां लंगड़ा नच्चै ना
 जे नच्चे तां खोले पाई दै

या तो कोई व्यक्ति बोलता नहीं, अगर बोले तो फिर आर-पार कर देता है। सही-गलत का अनुमान नहीं लगाता।

दैनिक जीवन में हिमाचली कहावतों का प्रयोग अब कम होता जा रहा है। युवा पीढ़ी ज्ञान, तकनीक के जाल में ऐसी उलझती जा रही है कि उनका किसी भी भाषा पर अधिकार नहीं रहा। अपनी अभिव्यक्ति के लिए उनके पास शब्द ही नहीं है। इस पतन को रोकने का प्रयास बुद्धिजीवी वर्ग को करना चाहिए। हिमाचली कहावतें जीवन के अनुभव को कुशलता से बताती हैं। पुरानी पीढ़ी इसका प्रयोग प्रचुरता से करती थी, परन्तु आज ऐसा प्रयोग कम देखने को मिलता है। ऐसी कहावतें हिमाचली संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। इसको अधिक से अधिक लिखित रूप में सहेजकर रखना चाहिए। ऐसा आज के समय में अपेक्षित और आवश्यक है, ताकि आने वाली पीढ़ी भी इससे लाभान्वित हो सके।

*****

हिमाचल- प्रदेश की गद्दी जनजाति के पारम्परिक परिधान : एक अवलोकन

भरत सिंह,
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग,
डी.ए.वी. महाविद्यालय
काँगड़ा (हि.प्र.)

गद्दी जनजाति हिमाचल प्रदेश के जिला चम्बा के भरमौर जनपद के स्थायी निवासी हैं। इस समुदाय के लोग चम्बा-भरमौर के साथ-साथ धौलाधार की उपत्यिका एवं मैदानी इलाकों में भी बसे हैं। इनकी बस्ती को 'गद्देरण' कहा जाता है जिसका अर्थ – 'गद्दियों का घर' है। व्यवसायिक दृष्टि से इस समुदाय के लोग चरवाहे हैं और भेड़-बकरी के रेवड़ ही इनकी सम्पत्ति है, जिसे स्थानीय लोकभाषा में 'धण' अर्थात् धन की संज्ञा दी जाती है। भेड़-बकरियों को चराने वाले 'पुहाल' कहे जाते हैं जबकि 'गद्दी' शब्द का अर्थ राजसिंहासन से जुड़ा हुआ है। इस समुदाय के लोगों ने ही राजा मारू के साथ सम्मिलित होकर हिमाचल-प्रदेश की सबसे प्राचीन रियासतों में से एक ब्रह्मपुर अर्थात भरमौर में गद्दी (राजगद्दी, राजसिंहासन) की स्थापना में प्रमुख भूमिका का निर्वहन किया था। अतः संघ की गद्दी पर राजा के समतुल्य बराबरी का हकदार होने के परिणामस्वरूप कालांतर में इनकी संतति लोक में 'गद्दी' शब्द से प्रचलित एवं प्रसिद्ध हुई। गद्दी समुदाय मुख्यतः शैव-सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। यह जन जाति अपने पौराणिक रीति-रिवाजों, रहन-सहन, खान-पान, लोक संस्कृति एवं विशिष्ट वस्त्राभूषण के कारण एक विशिष्ट पहचान रखती है। गद्दी जनजाति की वेशभूषा तथा लोकाचार अन्य पर्वतीय लोगों से थोड़ा भिन्न तथा अत्यंत मनोहारी है। वस्तुतः यह जनजाति शीत प्रधान क्षेत्रों में निवास करती है। अतः अपने व्यवसाय एवं भौगोलिक जलवायु के अनुरूप यह लोग पारम्परिक ऊनी वस्त्र धारण करते हैं, जो स्वतः ही अद्वितीय तथा जनजातीय लोक संस्कृति की स्पष्ट तथा सीधी परिचायक है।

हिमाचल प्रदेश की वेशभूषा के संदर्भ में डॉ. गौतम शर्मा व्यथित लिखते हैं- हिमाचलियों की वेशभूषा बहुरंगी तथा आंचलिक सौन्दर्य से पूर्ण है। ऊपर पहाड़ों पर रहने वाले लोग प्रायः ऊनी वस्त्रों का प्रयोग करते हैं। अन्यत्र मौसम के अनुसार वस्त्र पहनते हैं। यहाँ पर ऊपरी अर्थात् सुदूर पर्वतीय भूभाग जनजातीय क्षेत्र के अंतर्गत आता है जिसमें हिमाचल प्रदेश का लाहौल-स्पीति, किन्नौर तथा चम्बा जिले के भरमौर-पांगी आदि जनपद आते हैं। हिमाचल-प्रदेश के जिला चम्बा का भरमौर जनपद गद्दी जनजाति

का मूल निवास स्थान रहा है। इस स्थान पर अत्यधिक हिमपात होता है । अतः प्रकृति और परिवेश के अनुरूप यहाँ के स्थानीय जनमानस ठण्ड से बचने हेतु ऊनी वस्त्र धारण करते हैं। गद्दियों की वेशभूषा बड़ी आकर्षक है। चोला, डोरा, चूड़ीदार पाजामा तथा गुंबदनुमा नुआली (ऊनी) टोपी पहने गद्दी बड़ा मनोहारी लगता है। कमर में बंधा काला डोरा पीठ पर बोझा ढोने में सहायक सिद्ध होता है। गद्दनें रंग-बिरंगे फूलों के छपे खद्दर का बनाया चोला पहनती हैं तथा सिर पर किनारी जड़ी मोटी चादर लेती हैं जो पर्दे का काम देती हैं।

हिमाचल-प्रदेश की गद्दी जनजाति का इतिहास जितना पुराना है उतनी ही पुरानी इनकी लोक संस्कृति और लोक-परम्पराएँ हैं। वस्तुतः उसी के प्रभावाधीन यहाँ के लोकमानस का परिधान और आभूषण शैली भी है। गद्दी लोकमानस के पारम्परिक परिधानों का विवेचन, विश्लेषण निम्न प्रकार से है-

पुरुष वेशभूषा :

गद्दी जनजाति के पुरुषों की पारम्परिक वेशभूषा में मूलभूत परिवर्तन आ चुका है और यदि परिधान के साथ संस्कारों तथा कर्मकाण्डों का सम्बन्ध न होता तो गद्दी जनजाति का पारम्परिक लिबास लुप्त हो गया होता। इस सम्बन्ध में जनजातीय क्षेत्र भरमौर कोई अपवाद नहीं है। अन्य अनेक स्थलों एवं जनजातियों की भांति गद्दी समुदाय के पारम्परिक वस्त्राभूषण में परिवर्तन आ चुका है। इसका प्रमुख कारण पारम्परिक व्यवसाय में अरुचि और पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का अंधानुकरण है। इन सबके बावजूद गद्दी जनजाति सदियों से अपनी पारम्परिक वेशभूषा का प्रयोग करती आई है जिसमें मुख्यतः गद्दी पुरुष कुर्ते के ऊपर श्वेत रंग का ऊनी चोला पहनते हैं जो कमर के पास ढीला-ढाला तथा अनेक सिलहटों वाला होता है। चोले के ऊपर काली भेड़ की ऊन से स्वनिर्मित काले रंग का ऊनी 'डोरा' (रस्साया पेटी) लपेटा रहता है। कमर में बंधा यह डोरा पीठ पर बोझा और कमर को सीधा रखने में सहायक होता है। डोरा लगाने से कमर के ऊपर 'खोक' बन जाती है जिसमें कई बार नवजात मेमनों को सुरक्षित रखा जाता है। डोरे की लपटों में 'बुगलू', 'रुणका' (आग जलाने का पत्थर), बाँसुरी तथा लोहे का दराट बँधा रहता है। वहीं सर्दियों में ऊनी पायजामा पहना जाता है, जिसे स्थानीय भाषा में 'सुथण' कहा जाता है। पैरों में चमड़े का जूता तथा सिर पर ऊनी टोपी पहनी जाती है। यह टोपी निचले भाग में चौड़ी किन्तु शिखर की ओर हिमशिखर के समान होती है, जिसे प्रायः कैलाश पर्वत का प्रतीक माना जाता है। गद्दी नंगे सिर 'धण'(भेड़-बकरियां) नहीं चराते। कई बार टोपी के स्थान पर श्वेत साफे का प्रयोग करते हैं। गद्दी पुरुषों की वेशभूषा का विस्तृत वर्णन इस प्रकार से है-

(पुरुष वर्ग की वेशभूषा, चित्र साभार – डॉ. केहर सिंह ठाकुर)

चोळा (चोला):

गद्दी जनजाति के पुरूष वर्ग की पारम्परिक वेशभूषा चोला है। "ऊनी चोला घुटने तक पहुंचता है। इसकी कई सलहटें होती हैं। यह श्वेत-ऊन के पट्टू से तैयार किया जाता है, जो साधारणतः चौदह या पंद्रह हाथ लम्बा होता है। इस पट्टू को हथकरघे पर स्वयं बुना जाता है। ऊनी ताना और बाना महिलाओं द्वारा अपने चरखे पर काता जाता है। यदि ताना बारीक हो तो एक किलो ग्राम पर्याप्त होता है। बाना इससे दुगुना होना अनुमानित होता है।" गद्दी जनजाति सदियों से आत्मनिर्भर है। यह समुदाय अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति स्वयं करता आया है जिसका उदाहरण इनका पारम्परिक पहनावा 'चोला' है।

(चोला धारण किए हुए डॉ. शिवदयाल शर्मा-प्राचार्य राजकीय महाविद्यालय चम्बा)

गद्दी लोकमानस अपनी भेड़ों से हासिल हुई नर्म-नर्म श्वेत ऊन को पिंजोकर, चरखे पर कातकर, 'उनसाण' से उनसाने और घरेलू रछ पर बुनकर 'पट्टू' तैयार करता है। यह बहुत श्रमसाध्य कार्य है। पट्टू को मजबूत बनाने के लिए उसे 'मलैड़' में डालकर गर्म पानी से पाँव मार-मार कर घोटा जाता है ताकि वर्षों तक पानी शरीर को छूने न पाए, ऐसा करने से 'पट्टू' और अधिक मजबूत होता है। 'पट्टू' पूरी तरह बनने के पश्चात स्थानीय दर्जी द्वारा चोले को स्वयं ही हाथ से ऊनी धागे की सहायता से सिला जाता है। पहले पट्टे की अपेक्षित लम्बाई-चौड़ाई के तीन या चार लम्बे टुकड़े काटे जाते हैं। एक चोला बनाने के लिए तीन या चार पट्टू प्रयोग में लाए जाते हैं। इनमें से दो टुकड़ों से चोले की पीठ तैयार की जाती है। अन्य दो टुकड़ों से

अगली तरफ के दाएँ एवं बाएं पल्लों के लिए होते हैं। फिर अंग्रेजी अक्षर वी () या चिमटे के आकार की अनेक कतरने तैयार की जाती हैं जिसका चौड़ाई वाला माप भिन्न प्रकार का होता है। इन कतरनों को 'बौरी' कहा जाता है। इन बौरियों का चौड़ा भाग नीचे की ओर तथा बारीक भाग ऊपर की ओर रखकर इन्हें हाथ से सिला जाता है तथा अंततः पीठ और दायें-बायें के पल्लों के साथ सिल दिया जाता है। बौरियों के सभी सिरे बगल के नीचे बाजुओं के साथ जोड़ दिये जाते हैं। सामान्यतः अठारह बौरियों (नौ दायीं और बायीं ओर) के चोले को सामान्य आकार का माना जाता है जिसके दामन के घेरे की लम्बाई लगभग दो गज के बराबर होती है। बनावट में दोनों पल्ले आगे से खुले होते हैं।

इस चोले के दोनों पल्लों को एक दूसरे के ऊपर रखकर 20-25 मीटर लम्बे 'डोरे' (गात्तरी) को कमर में बांधा जाता है। श्वेत चोले के ऊपर कमर में बंधा काला डोरा अत्यंत मनोहारी लगता है। डोरा बनाने की क्रियाविधि में सर्वप्रथम इसे सूत से रस्सी की तरह तैयार किया जाता है। बाद में जमाव देकर तैयार किया जाता है। डोरे अथवा 'गात्तरी' को सुन्दरता प्रदान करने के लिए बीच-बीच में एकसमान दूरी पर बारीक माला के श्वेत मनकों की जड़ाई की जाती है। इस डोरे अर्थात 'गात्तरी' से बनी कोख के अंदर गद्दी समुदाय की समूची गृहस्थी समा जाती है। डोरे के साथ बंधा चमड़े का 'बुगलू (थैला), लोहे का 'रुणका', दराट और बाँसुरी इसकी शोभा को बढ़ाते हैं। बुगलू के अंदर 'भुजलू' रखा होता है जिस पर रुणका और 'सुकराह' पत्थर को रगड़ने से चिंगारी उत्पन्न होती है जो आग जलाने तथा हुक्का पीने के काम आता है। कठिन चढ़ाई के दौरान आवश्यकता पड़ने पर 'गात्तरी' के अंदर दो-चार मेमनों को भी डाला जाता है। ऊनी चोले के अंदर कमीज तथा टांगों में स्वनिर्मित ऊनी 'सुत्थण' (पजामा) पहनी जाती है। वहीं सर पर सामान्यतः ऊनी टोपा अथवा सफेद साफा पहना जाता है।

चोली :

'चोली' अथवा चोलु 'चोला' का ही रूप है। परन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसे अधिक सलवटें देकर तैयार किया जाता है जो देखने में बहुत की आकर्षक लगता है। यदि इसके माप की बात करें तो यह चोलु से थोड़ी लम्बी होती है। चोली को बनाने के लिए गद्दीजन चुन-चुनकर उत्तम प्रकार की ऊन का प्रयोग करते हैं। सामान्यतः चोली का प्रयोग किसी विशेष उत्सव के समय नृत्य करने के सुअवसर पर किया जाता है। पारम्परिक लोकनृत्य करते हुए गद्दी लोकमानस सिर पर ऊनी टोपी का प्रयोग करते हैं जिसके शीर्ष पर नील पक्षी के पंखों की कलगी लगाई जाती है जो इनकी सुन्दरता में अभिवृद्धि करती है। गद्दी वस्त्राभूषण की विशिष्टता इस बात में है की यहाँ के स्थानीय देवी-देवता भी यहीं वस्त्राभूषण पहनते हैं। उदाहरणतः भगवान शिव भी यही पारम्परिक वस्त्राभूषण पहनते हैं । जब कभी इन देवों का गुर अथवा चेला 'खेलपात्र'

(देवात्मा का संचरण) करता है तो यही वस्त्र धारण करते हैं।

(चोली धारण किए हुए एक नवयुवक)

महिलाओं की वेशभूषा :

'नुआंचड़ी' :

गद्दी स्त्रियाँ भी पुरुषों की भांति ऊनी चोला अथवा 'नुआंचड़ी' या लुआंचड़ी पहनती हैं। स्वनिर्मित ऊनी चोला सर्दियों में ठण्ड से निजात पाता है। 'नुआंचड़ी' चोलु की भान्ति कई सलहटों का आकर्षक वस्त्र है। 'नुआंचड़ी' सात या आठ गज कपड़े से तैयार होती है, जिसका ऊपरी भाग ब्लाउज की तरह होता है। 'नुआंचड़ी' बाजू रहित और बाजू युक्त दोनों प्रकार की होती है। बाजू रहित 'नुआंचड़ी' में अंदर पहना ब्लाउज बाजुओं की पूर्ति करता है। चोला की भांति 'नुआंचड़ी' को कमर पर काले ऊनी डोरे से बांधा जाता है। 'नुआंचड़ी' गद्दी महिलाओं को कंधे से लेकर एड़ी तक ढकती है। लेकिन स्त्रियों के डोरे की लम्बाई पुरुष डोरे से कमतर होती है। स्त्रियाँ अपने डोरे में एक छोटा गोल शीशा जरूर डालकर रखती हैं जिसे 'छट्टा' कहा जाता है। "यह गोल चमड़े पर मढ़ा हुआ रस्सियों की फ्रेम में सजाया जाता है। छट्टा जहाँ रूप का प्रतीक है वहीं यह देवी, गौरी अथवा पार्वती से उसके परिधान को दिखाता है जिनको अक्सर दर्पण में अपना रूप निहराते हुए शिल्पित किया जाता है।" बारह से बीस मीटर लम्बी छींट अथवा चटकीले प्रिंट वाले विशेष कपड़े जिस पर फुल-पत्ते स्पष्टतः दृष्टव्य हों, से 'नुआंचड़ी' सिलाई जाती है। 'नुआंचड़ी' के चोली वाले भाग को झालर, किनारी, गोटे व शहनील से सजाया जाता है। पुरुषों की भांति गद्दी स्त्रियाँ भी कमर में काले रंग का 'डोरा' पहनती हैं। गाँव में निर्मित जूते पैरों में पहनती हैं जिसे स्थानीय भाषा में 'पणही' अथवा 'मोचड़ू' कहा जाता है। सिर पर मोटी सूती चादर ओढ़ती है, जिसे स्थानीय भाषा में 'घुंड़ू' कहते हैं।

(नुआंचड़ी धारण किए हुए एक गद्दी महिला, चित्र साभार- लोकगायक सुनील राणा)

दोहड़ु/ ऊनी चोली :

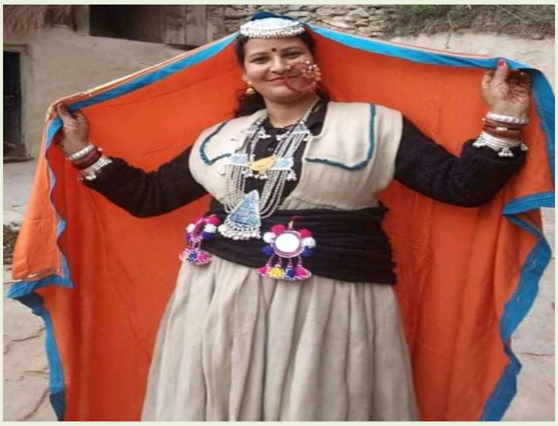

(चित्र साभार- श्रीमती रजनी देवी, भरमौर जिला चम्बा, हि.प्र.)

जनजातीय क्षेत्र भरमौर भौगोलिक दृष्टि से अत्यंत दुर्गम एवं ठण्डा जनपद है। अतः सर्दियों में यहाँ पर भीषण हिमपात पड़ता है जिससे यहाँ कड़ाके की ठण्ड पड़ती है। ऐसी स्थिति में यहाँ का सामान्य जनजीवन बहुत प्रभावित होता है। अतएव शीत ऋतु में ठण्ड से बचने के लिए गद्दी महिलाएँ ऊनी चोलु अर्थात् 'दोहड़ु' पहनती हैं जो भेड़ की ऊन से स्वनिर्मित अत्यंत गर्म होता है। 'दोहड़ु' भी 'नुआंचड़ी' की तरह एड़ी तक लम्बा होता है। गद्दी महिलाएं विभिन्न धार्मिक उत्सवों, मेले,त्यौहार एवं विवाहोत्सव के सुअवसर पर 'नुआंचड़ी' पहनकर पारम्परिक लोकनृत्य करती हैं। गद्दी नवविवाहिता का पारम्परिक वेशभूषा 'नुआंचड़ी' ही है। नवविवाहिता के परिवारजन अपनी बेटी के लिए नई 'नुआंचड़ी' सिलवाते हैं। जबकि दुल्हे के लिए 'नुआचा' या 'लुआंचा' बनवाया जाता है। पारम्परिक वस्त्राभूषण में सुसज्जित नवविवाहित गद्दी-युगल देखने में कितने सुंदर लगते हैं-

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचित गद्दी लोकमानस में प्रचलित पारम्परिक वेशभूषा की परम्परा में समय और परिस्थितयों के अनुसार परिवर्तन आया है। संस्कृतियों का आपसी संक्रमण, भूमंडलीकरण, विदेशी सभ्यता और संस्कृति का अंधानुकरण एवं पारम्परिक व्यवसाय के प्रति अरुचि तथा समाज के बदलते परिदृश्य के कारणवश सम्प्रतिकाल में जनजातीय समुदाय के पहनावे, खानपान, रहन-सहन एवं लोकाचार में काफी परिवर्तन आया है जबकि वास्तविकता यही है कि जनजातीय लोगों की पृथक व विशिष्ट पहचान इनके पारम्परिक वस्त्राभूषण, खानपान, रहन-सहन, लोकभाषा तथा लोक संस्कृति है। वर्तमान समय में जनजातीय समुदाय ने मानों अपनी पहचान कहीं खो सी दी है, अतः अब किसी विशेष लोकोत्सव, विवाहादि,मेले, त्यौहार आदि के सुअवसर पर पारम्परिक परिधान धारण करते हैं।

*****

आदिवासी हिन्दी कविताओं में लोक जीवन और संस्कृति

डॉ. दिनेश अहिरवार
कक्ष क्र. – 131, बिरला – 'ब' हॉस्टल
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी (उ.प्र.) 221005

'लोक' शब्द और उसके अभिप्राय से संदर्भित अनेकों विद्वानों ने विभिन्न मत दिए हैं। लेकिन 'लोक' शब्द का अर्थ इतना व्यापक और विस्तृत है कि उसे किसी एक निश्चित परिभाषा के दायरे में सीमित करना संभव नहीं। 'लोक' शब्द के अर्थ का व्यापक होने का आशय उसकी अर्थवत्ता से है क्योंकि लोक किसी एक निश्चित विचारधारा या किसी सिद्धांत का द्योतक न होकर विभिन्न संस्कृतियों, परम्पराओं और ग्रामीण जीवन की भाषा तथा सामाजिक व्यवहार का परिचायक है। लोक और साहित्य का बहुत गहरा संबंध होता है क्योंकि जो लोक में घटित होता है, वही हमारे साहित्य में अभिव्यक्त होता है। आदिवासी लोक साहित्य की अभिव्यक्ति मुख्यतः मौखिक है जिसका प्रमुख कारण लिपि का अभाव रहा है। लेकिन अब लिखित रूप में भी देखा जा सकता है। इसके सन्दर्भ में हरिराम मीणा लिखते हैं कि– **"लोकसाहित्य की मौखिक परंपरा का मौलिक स्वरूप अभी भी आदिवासी वाचिक परंपरा के साहित्य में देखा जा सकता है जो लोकगीतों के विभिन्न रूपों, गल्प, कथावाचनों, किंवदंतियों, पहेलियों, नाटकों की विभिन्न विधाओं यथा लीला, स्वांग, बहुरूपिया कला आदि के रूप में उपलब्ध मिलता है।"**[1] अर्थात लोक जीवन पर आधारित वाचिक साहित्य को लोक साहित्य की संज्ञा से अभिहीत किया गया है।

लोक साहित्य में लोक जीवन से संबंधित रचनाओं का अधिक महत्व होता है। लोक जीवन और संस्कृति प्रत्येक देश की विशिष्ट पहचान होती है। यदि किसी देश की संस्कृति को जानना-समझना है तो सबसे पहले उसके लोक जीवन को जानना होगा, तभी हम उस देश की संस्कृति और साहित्य को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं। **"'वसुधैव कुटुम्बकम' आदि अनेक गौरवपूर्ण तत्त्वों से युक्त भारतीय संस्कृति विश्व की विलक्षण संस्कृति है। ...साहित्य में मनुष्यता के समान धरातल खोजते हुए उन शाश्वत तत्त्वों का साक्षात्कार करना होता है, जिन पर संस्कारों के तथ्य जुटाकर संस्कृति-प्रासाद खड़ा हुआ है। इसीलिए साहित्य संस्कृति का निर्माणकर्ता भी है।"**[2] किसी भी देश या समाज का लोक जीवन वहाँ की संस्कृति का उद्गम स्थल होता है तथा लोक संस्कृति उस देश व समाज की सामूहिक पहचान होती है। लोक जीवन और संस्कृति हमारे

समाज की जड़ों को सिंचित करती है तथा उसके उत्तरोत्तर विकास में सहायक होती है। लोक साहित्य के संबंध में डॉ. अमरनाथ लिखते हैं कि **"लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर जिसे सामान्य लोक-समूह अपना मानता है और जिसमें लोक की, युग-युग की वाणी-साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक मानस प्रतिबिंबित रहता है, जिसकी प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा लोक का अपना होता है और उसके लिए अत्यंत सहज और स्वाभाविक होता है।"**[3]

आदिवासी साहित्य की एक लम्बी वाचिक परंपरा विद्यमान रही है जिसमें उनके मौखिक साहित्य का अपार भंडार है। यह वाचिक परंपरा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक तथा दूसरी पीढ़ी से तीसरी पीढ़ी तक संचरण करती रहती है। लिपि का अभाव होने के कारण इस वाचिक परम्परा का क्रम अविच्छिन्न रूप से लगातार चलता रहा है। वाचिक परम्परा का एक समृद्धशाली इतिहास है या यों कहें कि आदिम युग में लोग एक दूसरे की बातों को सुनकर ही स्मृतियों में संजोकर रख लिया करते थे तथा किस्से, कहानियों और लोक कथाओं के माध्यम से अपनी आने वाली पीढ़ी के लिए दे जाते थे। आदिवासी साहित्य की वाचिक परम्परा या मौखिक साहित्य के सन्दर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं कि – **"वे अपने साहित्य को** 'ऑरेचर' कहते हैं। ऑरेचर अर्थात ऑरल **लिटरेचर। उनकी मान्यता है कि उनके आज का लिखित साहित्य भी उनकी वाचिक यानी पुरखा-साहित्य की परंपरा का ही साहित्य है।"**[4] आदिवासी साहित्य की यही वाचिक परम्परा लोक जीवन और संस्कृति का अभिन्न अंग है।

आधुनिक विकास की अंधी दौड़ में सबकुछ तहस-नहस सा प्रतीत होने लगा है। पूँजीपति और कॉर्पोरेट कंपनियों द्वारा षड्यंत्रकारी योजनाओं का निर्माण कर आदिवासियों के जल, जंगल जमीन आदि प्राकृतिक संसाधनों को हथिया लिया गया है और उन्हें बेघर कर दिया गया है जिससे विस्थापन का दंश झेलने के लिए मजबूर आदिवासी दर-ब-दर की ठोकरें खा रहे हैं। विस्थापन की वजह से उनके लोक जीवन और सांस्कृतिक अस्मिता पर संकट खड़ा हो गया है। आदिवासी समुदाय में विस्थापन की समस्या वैश्विक स्तर पर देखी जा सकती है जिससे हमारा भारतीय समाज अछूता नहीं है। इस सन्दर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि **"आज झारखंड हो या देश का कोई भी आदिवासी बसाहटों का गाँव व शहर, जल-जंगल-जमीन पर कब्ज़ा, विस्थापन, घुसपैठ, अवमानना, अस्तित्व व पहचान का संकट तथा बेरोजगारी, भूख, बेदखली और जंगल में प्रवेश निषेध ने आदिवासियों का जीना दूभर कर दिया है। निषेध व बाजारवाद और सरकारी नीतियों के कारण उसके रोजगार, उसकी भाषा, जीवनशैली, संस्कृति व इतिहास पर संकट मंडरा रहा है।"**[5] आदिवासी

लोक जीवन और संस्कृति का संरक्षण करने में आदिवासी रचनाकारों ने महती भूमिका निभाई है जिसमें कविता प्रमुख विधा के रूप में उभरकर आयी है। आदिवासी लोक जीवन से जुड़ी कविताओं में उनकी संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन, बोली-भाषा तथा लोक व्यवहार में प्रयोग होने वाली अनेकों चीजों का बखूबी चित्रण देखने को मिलता है।

आदिवासी रचनाकार सरिता बड़ाइक की कविताओं में लोक जीवन के ऐसे चित्र मौजूद हैं जो अनायास ही हमें आकर्षित करते हैं और

"आम की लकड़ी और मिट्टी का
चूल्हा/मिट्टी के बर्तन में खाना
दोने और पत्तल/फुटकल का झोल चाकोड का साग
तनिक तेल से सब्जी स्वाद/तेल में सनी शहर की सब्जी फेल
पकवान पत्ते में भंपाया पीठा/सरई पत्ते की महमह महक
ऐ दादी तुम्हें नहीं बिसार पाई ।"[6]

सुषमा असुर की कविताओं में आदिवासी लोक जीवन के ऐसे अनेक दृश्य मौजूद हैं जो

छोटी-छोटी घरेलू चीजों जैसे– मिट्टी का चूल्हा, मिट्टी के बर्तन, दोना-पत्तल और खाने की वस्तुओं आदि के प्रतीक-बिम्बों की मार्फ़त कविताओं में लोक की जीवन्तता को बेहद संजीदगी के साथ अभिव्यक्त करती हैं –

लोक जीवन की संस्कृति और ग्रामीण जीवन का बहुत सजीव चित्रण प्रस्तुत करते हैं। इनकी कविताएँ लोक जीवन के अधिक करीब देखी जा सकती हैं जिसका मुख्य कारण रचनाकार का लोक व्यवहार की चीजों को अपने दैनिक जीवन

में उपयोग में लाने से है। आदिवासी समुदाय के लोग अपने जीवन यापन के लिए खेती-बाड़ी के साथ-साथ, मुर्गी और पशु-पालन भी करते हैं जो इनकी आय का प्रमुख साधन है। वे इनसे प्राप्त आमदनी से अपने घर परिवार की बुनियादी जरूरतों को पूरा करते हैं। आदिवासी समुदाय में पाले जाने वाले मुर्गा-मुर्गी और पशुओं का भी विशेष महत्व है। प्राचीन काल में जब उनके यहाँ समय देखने के लिए घड़ियाँ नहीं हुआ करती थीं तब ये मुर्गा और पक्षी ही उन्हें भोर में बाँग देकर जगाया करते थे। 'चलो दँवरी खेदने' कविता में सुषमा असुर लिखती हैं कि –

"चलो बेटा 'दँवरी खेदने'/मुर्गा बांग दे रहा है कितना सोओगे?/उठो, चलो जाएँगे दँवरी खेदने।"[7]

ग्रेस कुजूर आदिवासी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं। इनकी कविताओं में आदिवासी लोक संस्कृति और समाज के ऐसे चित्र देखने को मिलते हैं जो कि हमें काफी अचंभित और प्रभावित भी करते हैं। इन्होंने अपनी कविताओं में आदिवासी लोक संस्कृति, संगीत और कलाओं को महत्त्व दिया है। इनकी कविताओं में आदिवासी समुदाय के विभिन्न सांस्कृतिक आयोजनों आदि की तमाम छवियाँ मौजूद हैं। इनमें कहीं रात के सन्नाटे में माँदर की थाप सुनाई देती है तो कहीं हवा में घुलते 'अँगनई' और 'डमकच' के गीत का मधुर संगीत भी है। 'एक और जनी-शिकार' कविता में वे लिखती हैं कि –

"संगी रे/कितने चमकते थे/पटवा में खोंसे हुए तुम्हारे/उजले पंख-बगुले के
और कितना लहरता था/अखड़ा में नाचते वक्त/तुम्हारी तोलोंग का फुदना
कितना सुकून पैदा करती थी/रात के सन्नाटे में/माँदर की थाप
और हवा में घुलते/'अँगनई' और 'डमकच' के गीत।"[8]

वंदना टेटे आदिवासी साहित्य की एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। महत्वपूर्ण इस मानी में कि उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं में सार्थक और ज़रूरी हस्तक्षेप किया है। बेहतरीन कविताओं के साथ-साथ आदिवासी दर्शन की वैचारिकी और आलोचना में अच्छा खासा दखल रखती हैं।

वंदना टेटे आदिवासी साहित्य की एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। महत्वपूर्ण इस मानी में कि उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं में सार्थक और ज़रूरी हस्तक्षेप किया है। बेहतरीन कविताओं के साथ-साथ आदिवासी दर्शन की वैचारिकी और आलोचना में अच्छा खासा दखल रखती हैं। आदिवासी साहित्य विमर्श को इस मुकाम तक पहुँचाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका

है। इनकी कविताओं में आदिवासी लोक जीवन के विभिन्न रंग मौजूद हैं, जहाँ गोदने की जगह टैटुओं ने ले ली है, गोबर से लिपे आँगन में चाँदनी बिखरी हुई है, तो कहीं बोरसी की आग के पास बच्चे नानी-दादी से कहानी सुनते हुए आग में पके शकरकंद और मछली के स्वाद का भरपूर आनंद ले रहे हैं। दादी-नानी की ये मौखिक कहानियाँ ही आदिवासी लोक जीवन की गाथाएँ हैं जो उनकी भाषा, संस्कृति और आदिवासी पुरखा साहित्य के बारे में जानने समझने का प्रमुख आधार हैं। आज यह मौखिक साहित्य ख़त्म होने के कगार पर आ गया है, आज कोई भी दादी-नानी से कहानी सुनने की इच्छा नहीं रखता। आधुनिक विकास ने हम सबको गहरे अर्थों में प्रभावित किया है जिसकी चिंता वंदना टेटे की कविता 'हमारे बच्चे नहीं जानते, तोतो-रे नोनो-रे' में बखूबी ढंग से देखने को मिलती है। वे लिखती हैं कि –

> **"टैटू तो हैं गोदने खो गए/गोबर से लिपे आँगन में/चाँदनी रात में**
> **या कि बोरसी की आग के पास/नानी-दादी से कहानी सुनने का मजा**
> **आग में पके शकरकंद और मछली का स्वाद/नहीं जान पाएँगे।"[9]**

निर्मला पुतुल आदिवासी हिन्दी कविता की एक सशक्त रचनाकार हैं। इनकी कविताओं में आदिवासी स्त्री जीवन का संघर्ष और लोक जीवन की अनेकों समस्याएँ मौजूद हैं। वे अपनी कविताओं की मार्फ़त आदिवासियों के लोकपक्ष और उनकी समस्याओं को मजबूती के साथ उठाने का प्रयास करती हैं। आधुनिकता की चपेट में पिस रहे लोक जीवन की दुर्गति को कविताओं का विषय बनाती हैं तथा बाजारवादी संस्कृति से उपजे संकटों से आगाह कराती हैं तथा उनसे निपटने का मार्ग भी प्रशस्त करती हैं। इनकी कविताओं में आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और विस्थापन के कारण अस्मिता के सवालों से जुडी समस्याएँ भी मौजूद हैं। निर्मला पुतुल एक आदिवासी रचनाकार हैं उन्होंने आदिवासीपन को जिया है और महसूस भी किया है। मुझे लगता है इसी कारण उनकी कविताओं में कलात्मकता से अधिक यथार्थता मौजूद है। 'आदिवासी स्त्रियाँ' कविता में निर्मला पुतुल लिखती हैं कि –

> **"जूड़े से खोंसकर पलाश के फूल/जब नाचती कतारबद्ध मांदल की थाप पर**
> **आ जाता तब असमय बसंत/वे करती प्रेम जंगलों से, नदियों से, पहाड़ों से**
> **मिट्‌टी से, गीतों से, फसलों से/उनके नाते-रिश्ते की परिधि में आते**
> **गाय, बकरी, सूअर भी।"[10]**

युवा कवि अनुज लुगुन आदिवासी हिन्दी कविता के महत्वपूर्ण कवि हैं। इनकी कविताओं में आदिवासी अस्मिता और सहजीविता के लिए

संघर्ष तथा तीव्र प्रतिरोधी स्वर मुखरित हुए हैं, साथ ही उनके पुरखा साहित्य, संस्कृति और लोक जीवन के विविध रूप दृष्टव्य हैं। इनकी कविताओं में जितना अधिक प्रतिरोध है, उतना ही अपनी संस्कृति को सहेजने और उसके संरक्षण की चिंताएँ भी मौजूद हैं। अनुज लुगुन अपनी कविताओं में लोक जीवन और संस्कृति से संपृक्त उन छोटी-छोटी चीजों को स्थान देते हैं जो आदिवासी लोक की सांस्कृतिक पहचान है, आज वे धीरे-धीरे लुप्त होने के कगार पर हैं। आदिवासियों के यहाँ लोक से जुड़ी विभिन्न प्रकार की आदिम वस्तुएँ हैं जिनका आदिवासी संस्कृति में विशिष्ट महत्त्व है। अनुज अपनी कविताओं की मार्फ़त आदिवासी लोक जीवन के संकटों से उबरने के उपाय तलाशते हैं तथा आदिवासी लोक जीवन और संस्कृति को जीवंत बनाने का उद्यम रचते देखे जा सकते हैं। 'मछुआरा' कविता में वे लिखते हैं कि –

> **"मुझे लगता है/अखाड़े, नगाड़े, मांदर और गीत**
> **हमारे पुरखों के बनाए हथियार हैं/जिन्हें हम अपने कन्धों पर ढोते हैं**
> **हमारी ज़मीन यहीं से पकती है/और हम तैयार होते हैं/लड़ने के लिए जंगलों से न्याय के पक्ष में।"**[11]

आदिवासी लोक जीवन से संदर्भित अनेकों सांस्कृतिक और पारंपरिक गीतों की भी रचना हुई है। आदिवासियों के लोकगीत और कविताओं में उनकी सम्पूर्ण जीवन-शैली मुखरित हुई है। आदिवासियों का जीवन चाहे जितने भी अभावों से ग्रसित और संघर्षपूर्ण रहा हो लेकिन जीवन जीने की कला में सामूहिकता का बोध हमेशा विद्यमान रहा है। आदिवासियों की यही सामूहिकता और आपसी सहयोग की भावना आज भी मौजूद है जो अन्य लोगों से पृथक करती है। 'भीली साहित्य का समाज-साहित्य' लेख में भगवानदास पटेल लिखते हैं कि – **"आदिवासी और लोक समाजों में अब भी ऐसी अनेक प्राक्-आधुनिक परम्पराएँ जीवित हैं, जिन्हें विकास का आधुनिक झंझाप्रवाह भी नष्ट नहीं कर पाया। इन समाजों में आधुनिकता के संपर्क से पैदा हुए बदलाव साफ दिखाई देते हैं लेकिन परंपरा की प्रवृत्ति इतनी प्रबल नहीं दिखती कि उन्हें सांस्कृतिक अस्मिता के विसर्जित हो उठने की आशंका उत्पन्न हो जाए।"**[12]

लोक साहित्य की भाषा शिष्ट और उच्च कोटि की न होकर आम जन की साधारण भाषा होती है। लोक साहित्य की यह एक विशिष्ट पहचान है कि उसकी भाषा में सरल, सहज और लोक जीवन से जुड़े शब्दों का प्रयोग होता है। इससे यह नहीं कि वह रचना उच्च कोटि की नहीं होती बल्कि उसकी साधारण भाषा ही रचना को अधिक सम्प्रेषणीय और प्रभावशाली बनाती है। यही विशिष्टता आदिवासी कविताओं में भी परिलक्षित होती है। अधिकांश आदिवासी साहित्य

लोक जीवन और ग्रामीण संस्कृति के विभिन्न विषयों पर आधारित होने के कारण उनके यहाँ विभिन्न लोक शब्दावलियों का प्रयोग संजीदगी के साथ देखा जा सकता है। लेकिन आज देखा जाए तो लोक जीवन और ग्रामीण संस्कृति से जुड़ी हुई बहुत सी चीजें नष्ट होने के कगार पर हैं जिससे लोक जीवन की अवधारणा ही संकटग्रस्त हो गई है। मानाकि परिवर्तन प्रकृति का नियम है लेकिन आदिवासी जीवन से जुड़ी हुई चीजों के लगातार क्षरण ने आदिवासी लोक जीवन की अस्मिता पर ही संकट खड़े कर दिए हैं। आदिवासी हिंदी कविताओं में आदिवासी लोक जीवन के विविध रंग देखने को मिलते हैं, साथ ही आदिवासी लोक जीवन पर गहराते संकटों की चिंताएँ और उनके उपाय भी मौजूद हैं। आदिवासी लोक संस्कृति हमारी भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है जिसका संरक्षण और संवर्द्धन करना हमारा मानवीय दायित्व है।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची :–

1. माधव सोनटक्के/संजय हरिराम मीणा राठोड़, **भारतीय साहित्य और आदिवासी विमर्श**, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017, पृष्ठ – 18
2. वंदना टेटे, **वाचिकता : आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020, पृष्ठ – 12
3. डॉ. अमरनाथ, **हिन्दी भाषा की पारिभाषिक शब्दावली**, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पृष्ठ – 316
4. वंदना टेटे, **वाचिकता : आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020, पृष्ठ – 20
5. रमणिका गुप्ता (संपा.),**कमल को तीर होने दो**, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, पृष्ठ – 6 ग्रेसर कुजूर
6. सरिता बड़ाइक,**नन्हें सपनों का सुख**, रमणिका फाउंडेशन, नयी दिल्ली, 2013, पृष्ठ – 34
7. सुषमा असुर वंदना टेटे (संपा.), **कवि मन जनी मन**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019, पृष्ठ – 29
8. वही, पृष्ठ – 60
9. वही, पृष्ठ – 234–235
10. निर्मला पुतुल, **अपने घर की तलाश में**, रमणिका फाउंडेशन, नयी दिल्ली, 2004, पृष्ठ – 6
11. अनुज लुगुन वंदना टेटे, लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017, पृष्ठ – 165
12. मणिका गुप्ता (संपा.), **भारत का आदिवासी स्वर**, अनन्य प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2018, पृष्ठ – 151

*****

इंडोनेशिया में भारतीय संस्कृति

इकबाल अहमद,
परामर्शदाता,
संस्कृति मंत्रलाय

इंडोनेशिया प्रशांत महासागर में अवस्थित लगभग तीन हजार द्वीपों का समूह है जो बाली, जावा, कालीमंतन, सुलावासी, नासा तेगारी और पश्चिमी पापुआ नयूगिनी सहित 34 प्रांतों में विभक्त है। दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों में वर्तमान वर्तमान रूप में भारतीय संस्कृति ने अहम भूमिका निभाई है। हजारों वर्ष बाद भी भारतीय संस्कृति का जीवंत रूप देखना है तो इंडोनेशिया जाना चाहिए। नैसर्गिक सौंदर्य से भरपूर और विशिष्ट संस्कृति वाला इंडोनेशिया बड़े वर्ग को आकर्षित करता है। इंडोनेशिया ने न केवल अपने को भारत की अमर सनातन संस्कृति से जोड़ा है, बल्कि उसे समृद्ध बनाने में भी महत्वपूर्ण निभाई है। इंडोनेशिया ने न केवल भारतीय संस्कृति को सहेजकर रखा है, बल्कि उसे संरक्षित, संवर्धित करने में भी सफलता पाई है। बदलते वैश्विक परिदृश्य में भारत-इंडोनेशिया की सामरिक मित्रता, बढ़ते व्यापारिक रिश्ते और दक्षिण-पूर्व प्रशांत क्षेत्र की शांति स्थापना में दोनों दोनों देशों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

इंडोनेशियाई भाषा में भारतीय प्रभाव बड़ी संख्या में संस्कृत शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है। आज बहुसंख्यक इंडोनेशियाई मुस्लिम हो सकते हैं, लेकिन उनके नाम अभी भी संस्कृतनिष्ठ हैं। इंडोनेशियाई भाषा में 'स्वर्ग' के लिए शब्द 'स्वर्ग' 'स्वर्ग' और 'नर्क' के लिए शब्द 'नरक' है। इंडोनेशिया जनसंख्या के दृष्टिकोण से विश्व का सबसे बड़ा मुस्लिम देश है। इस देश में हिंदू संस्कृति की यहां के समाज पर अमिट छाप है। यहां के बाली द्वीप में चालीस लाख हिंदू रहते हैं जो अपने धर्म पर सख्ती से अमल करते हैं। यहां का हिंदू समाज चार वर्णों यथा ब्रह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र में विभक्त है। ब्रह्मणों के प्रमुख गोत्र, ईदा और बेगोज कहलाते हैं, जबकि क्षत्रियों के प्रमुख गोत्र देव अगोयंग और ताजकोंडे हैं। बाली में सूर्यदेव की पूजा की जाती है जिनका चित्रण सात घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथ में बैठे व्यक्ति से किया गया है। यहां श्री देवी कृषि एवं उर्वकता की देवी है जिसे फसल कटाई-भोग के अवसर पर खेतों में प्रतिष्ठापित किया जाता है। भारत की भांति बाली में भी बहुत से मेले और भोज समारोह संचालित किए जाते हैं। ऐसे ही ही एक मेले एवं भोज पर्व को 'देव संघ' कहते हैं जिसमें देव काकी और श्री देवी के विवाह पर उन्हें भोग लगाया जाता है। एक अन्य स्रोत के अनुसार बाली के धान के हर खेत में श्री देवी और भू देवी (धन की देवी लक्ष्मी) को समर्पित

एक मंदिर होता है। कोई भी किसान श्री देवी और और भू देवी की पूजा किए बिना अपने कृषि कार्य कार्य की शुरुआत नहीं करता है। इसे 'सबक प्रथा' कहा जाता है।

बाली में विष्णु को जल और पाताल लोक का देवता माना जाता है। समुद्र तट पर मेलिस नामक पवित्रिकरण पर्व का आयोजन किया जाता है। इस अवसर पर मंदिरों के देवताओं का एक भव्य जुलूस निकाला जाता है। बाली के हिंदू न केवल अच्छे नक्काश हैं बल्कि बहुत अच्छे चित्रकार भी हैं। यहां 'भीम स्वर्ग' नामक चित्र सर्वोत्कृष्ट है जिसमें भीम को राक्षसों पर भयंकर हमला करते हुए दिखाया गया है। चन्द्रग्रहण नामक एक अन्य प्रसिद्ध चित्र में राहु द्वारा चन्द्रदेवी रतीह को निगलने का प्रयास करते हुए दिखाया गया है। भारत के एक व्यापारी पंडित नरेंद्र देव शास्त्री 1949 में बाली गए थे। बाद में वे वहीं बस गए थे। उनके अनुसार बाली के हिन्दुओं को धार्मिक हिदू ग्रन्थ पढ़ने, संस्कृत, हिंदी सीखने और मूल भारतीय ग्रन्थ पढ़ने का बड़ा चाव रहता है। बाली के पूरा बासफी नामक स्थान पर अवस्थित प्रमुख मठ में महादेवी की पूजा की जाती है।

भारतीय राष्ट्रीय महाकाव्य 'रामायण' 'महाभारत' ने इंडोनेशिया की संस्कृति और इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वर्तमान वर्तमान में भी इंडोनेशियाइयों के बीच भारतीय संस्कृति लोकप्रिय होने का प्रमाण यह है कि वहां की एयरलाइंस का नाम 'गरुड़ एयरलाइन्स' है। जावा के मुस्लिम, पूर्णिमा की रातों को रामायण नृत्य करते हैं। इंडोनेशिया मुस्लिम 'नरमपंथी हैं' जो सहनशीलता और सह-अस्तित्व की बात करते हैं। इंडोनेशिया, गणेश उत्कीर्णित 20000 रुपये की कागजी मुद्रा भी जारी करता है। इंडोनेशिया में शासकीय प्रतीक चिन्ह हनुमान है, जिसके पीछे यह तर्क है कि हनुमान ही ने सीता का पता लगाया था जिन्हें रावण ने अपहरण करके श्रीलंका में अशोक वाटिका में बंदी बनाकर रखा था। भारत के ऋषिगण जैसे कि मार्कंडेय, भारद्वाज, अगस्त्य जिनके नाम भारत में अब प्रसिद्ध नहीं हैं, बाली के विद्यालयों में सामान्य रूप से प्रचलित हैं। त्रिकाल संध्या (दिन में तीन बार सूर्य की पूजा) का प्रचलन बाली के प्रत्येक विद्यालय में है, बाली के प्रत्येक विद्यालय के बच्चों द्वारा गायत्री मंत्र दिन में तीन बार उच्चारित किया जाता है।

बाली के पुरुषों एवं महिलाओं दोनों के लिए राष्ट्रीय पोशाक धोती है। कोई भी धोती बिना मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकता। बाली की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था त्रि-त्रि-हिंद-करन...हितकारी, लाभकारी सिद्धांतों पर

आधारित है। मानवीय जीवन के तीन पहलू यथा ईश्वर के प्रति उसकी कर्त्तव्य परायणता (प्राह्यांगन), मानव के साथ उसका संबंध (पावोनग) और प्रकृति (पालेमहान) से उसका योग है। ये वही तीन सिद्धांत हैं जिन पर बाली की पूरी संस्कृति आधारित है।

विश्व प्रकृति और जीवन के तीन चरणों (जन्म, पालन और मृत्यु) की भी नुमाइंदगी करता है। यह धार्मिक और पवित्र अनुभूति का भी प्रतीक है, है, जो संतुलित गहरे परिवेश को जगाता है और सभी जीवित प्राणियों के बीच शांति बनाता है।

बाली द्वीप का प्रतीक चिन्ह देश की हिंदू परम्परा की अभिव्यक्ति है। इंडोनेशियाई पर्यटन मंत्रालय का एक प्रकाशन इस प्रतीक चिन्ह की इस प्रकार व्याख्या करता है, 'त्रिभुज प्रतीक चिन्ह चिन्ह का आकार स्थायित्व और संतुलन का द्योतक है। यह तीन सीधी रेखाओं से निर्मित हैं जिसके दोनों सिरे मिलते हैं जिससे यह जलती आग बन जाता है जो ब्रहमा, (निर्माता), लिंग या फरल्लुस का प्रतिनिधित्व करता है। यह त्रिभुज

इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता के दो प्रमुख स्थलों पर बलशाली पांडव भीम और अनेक घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथ पर आरुढ़ श्री कृष्ण-अर्जुन की प्रतिमाएं बनी हुई हैं। इंडोनेशिया का बोध वाक्य 'भिन्ने का तुंग्गल इका' अर्थात् एकता में अनेकता और अनेकता में एकता है। इंडोनेशियाई हस्तलिपि सुतासोमा काकविन हिंदी से प्रेरित है। वहां शिव और बुद्ध की समान मान्यता है।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू की इंडोनेशिया यात्रा के दौरान उनके सम्मान में वहां की राजधानी 'जकार्ता' में रामायण पर एक नाटक दिखाया गया। नाटक के अंत में रामायण के पात्रों का परिचय कराने पर पता चला है कि सभी कलाकार मुस्लिम हैं तथा वे विज्ञान और इंजीनियरिंग के छात्र हैं। नेहरू जी जी उन सभी कलाकारों से चर्चा कर आश्चर्यचकित हो गए। यह भी एक विडम्बना ही है कि विश्व के कोने-कोने में भारतीय संस्कृति के सूत्र यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरे हुए मिलेंगे पर हम उनसे अनजान हैं।

जावा में रामायण

रामायण गद्य और पद्य दोनों रूपों में में मौजूद है। जावा के छाया नाटकों में रामायण की कथाओं का बड़ा आकर्षक मंचन होता है। इस कार्यकलाप को यहां ''व्यांग'' कहा जाता है। यह सच है कि जावावासियों ने स्थानीय प्रभावों के तहत वाल्मिकी रामायण में कुछ परिवर्तन और परिवधर्न भी कर लिए हैं। तथापि यूरोपीय विद्वानों विद्वानों के अनुसार जावा में श्रीराम के दो रूप पहले रूप में वे महान नायक हैं जबकि उनका दूसरा रूप विष्णु अवतार के रूप में है। यह अनुश्रुति सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में फैल गई। म्यांमार के कठपुतली शो में भारतीय नायक श्रीराम को प्रमुख रूप से दिखाया जाता है। स्याम में राजा श्रीराम का अवतार होता है। जावा के पड़ोसी देश कम्बोडिया के एक शिलालेख पर यह उत्कीर्ण है कि ''ब्रहमण सोमशरमण ने रामायण और पुराणों के सम्मिश्रण से संपूर्ण 'महाभारत' की रचना की और अपने अनुयाइयों को नियमित रूप से उसका पाठ करने के लिए कहा। उन्होंने कहा कि जो कोई इसका जाप करेगा उसे मोक्ष प्राप्त होगा। कम्बोडिया के अंकोरवाट मंदिर का निर्माण बारहवीं शताब्दी में हुआ था जिसकी दीर्घाओं पर रामायण के विभिन्न विभिन्न पात्रों के चित्रों यथा श्रीराम द्वारा मारिच

का पीछा, श्रीराम और सुग्रीव की मित्रता, सुग्रीव और बाली का मल्लयुद्ध, हनुमान द्वारा लंका सीता की खोज, लंका का रणक्षेत्र और पुष्पक रथ में श्रीराम और सीता की वापसी को दर्शाया गया है। इसी प्रकार मध्य जावा स्थित परमबनन नामक मंदिर में भी इसी रामायण के पात्रों को दिखाया गया है।

प्रत्येक स्थान पर रचित मूल कार्य में कुछ विभिन्नताएं एवं विविधताएं आ जाती हैं। यहां यह यह उल्लेख करना युक्तियुक्त होगा कि जिस प्रकार दक्षिण भारत की लंबानी बंजारा जनजाति

की लंबानी रामायण में श्रीराम के स्थान पर लक्ष्मण धनुष उठाते हैं और सीताजी उन्हें वरमाला पहनाने के लिए आगे बढ़ती हैं तब लक्ष्मण जी उन्हें रोककर यह बताते हैं कि मैंने श्रीराम की आज्ञा से धनुष उठाया है, इसलिए मेरे बड़े भाई श्रीराम इस माला के हकदार हैं क्योंकि हमारी जनजाति में बड़े भाई का विवाह होने से पहले छोटे भाई का विवाह नहीं होता है। तदनुरूप तदनुरूप जावा की एक रामायण का नाम ''सीरत कांड'' है जो मुस्लिम गाथाओं और श्रीराम के महान कार्यों का सम्मिश्रण है। सीरत कांड में मक्कावासी आदिमानव आदम, उनके दो पुत्रों हाबील, काबील और शैतान का उल्लेख मिलता है। इसमें नूह (मनु) और उमा का भी जिक्र है। दिलचस्प बात यह कि इसमें विष्णु और वासुकी के साथ कुछ मुस्लिम किरदारों को भी जोड़ा गया गया है। तथापि बाद में इन मुस्लिम किरदारों को को हटा दिया गया। इस रामायण के अध्याय 23 से 45 तक श्रीराम और रावण पर परिचर्चा की गई है। इसमें श्रीराम को भार्गव, लक्ष्मण को मुरढाक, सीता को सिंता, हनुमान को अनुमान

कहा गया है। इसके अलावा हनुमान को श्रीराम और सीता का पुत्र माना गया है। सीरत कांड में सीताजी को स्पष्ट रूप से रावण और मंदोदरी की पुत्री कहा गया है। स्याम की रामायण में भी सीताजी को रावण की पुत्री बताया गया है। अमूल रामायण के अनुसार नारद मुनि ने लक्ष्मी को राक्षसी के रूप में जन्म लेने का श्राप दिया था। अस्तु जावा में श्रीराम अब भी एक जीवंत शक्ति हैं।

इंडोनेशिया एक लम्बे समय तक डचों (नीदरलैंडवासी) के प्रभुत्व में रहा। इसलिए इस अनुक्रम में डच विद्वानों का विचार है कि जावा की रामायण तमिल रामायण से प्रभावित रही है, इंडोनेशिया की कई लोकप्रिय गाथाएं गुजरात से ली गई हैं। वहां के लोक गीतों से स्पष्टत: यह पता चलता है कि गुजरात के प्रवासियों ने जावा द्वीप को आबाद किया। पहले सम्पूर्ण इंडोनेशिया हिंदुत्व और बौद्ध धर्म के मिश्रित प्रभाव में था जो वहां उड़ीसा और दक्षिण भारत के व्यापारियों द्वारा पहुंचाया गया। 16वीं शताब्दी में गुजरात व्यापारियों के माध्यम से वहां इस्लाम पहुंचा।

वास्तव में इंडोनेशिया में इस्लाम को पहुंचाने वाले वाले गुजराती व्यापारी ही थे।

पश्चिम जावा में हिंदुत्व से संबंधित शिलालेख एवं उत्कीर्ण लेख:- ऐसे ही एक लेख में भारतीय मूल के पूर्णवर्मन नामक एक प्राचीन भारतीय नायक एवं ऋषि का उल्लेख मिलता है जिनकी उपासना पश्चिम जावा में शुरु की गई थी। भारत में शुंगवंश के शासनकाल (सन् 420-478) के दौरान जावा देश के राजा पूर्णवर्मन ने शुंगवंशी शासक के दरबार में अपना एक विशेष दूत भेजा था। वस्तुत: शिलालेखों में उल्लिखित भारतीय मूल के जावा नरेश एक सुविख्यात और प्रतापी राजा थे। पूर्णवर्मन के शिलालेखों से स्पष्ट स्पष्ट होता है कि पांचवीं शताब्दी के दौरान पश्चिम जावा में एक उच्चस्तरीय हिन्दू सभ्यता फल-फूल रही थी।

यह वह समय था जब विश्व में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का डंका बज रहा था जिसका अब पुन: प्रादुर्भाव समस्त विश्व को गहराई से प्रभावित कर रहा है। ज्ञातव्य हो कि आज विश्व का प्रत्येक पांचवां व्यक्ति भारतीय भारतीय संस्कृति ने फिजी द्वीप समूह पापुआ न्यूगिनी, फिलीपींस, इंडोनेशिया, मलेशिया, थाईलैंड, थाईलैंड, कम्बोडिया, वियतनाम, म्यांमार, मॉरिशस, मॉरिशस, सूरीनाम, ट्रीनीडाड एंड टोबेगो और मेडागास्कर सहित विश्व के बहुत से देशों को प्रभावित किया है।

*****

प्राचीन चित्रांकन परम्परा में - श्रीराम

ललित शर्मा,
इतिहासकार, 'अनहद',
जैकी स्टूडियो, 15-मंगलपुरा,
झालावाड़, (राज.)

श्रीराम जीवन्त हैं, जिन्होंने पाषाण को अपने पांव के स्पर्श से मानवी रूप में परिवर्तित कर दिया हो वे कैसे पत्थर के हो सकते हैं? इसलिये हमारी आस्था श्रीराम को सजीव स्वरूप में पूजती है। यही कारण है कि आज इस कोरोना काल में हर राम आराधक भले ही राम मन्दिर निर्माण का दैहिक रूप से साक्षी न बन पा रहा हो लेकिन आज हर उस भारतवासी का मन जो श्रीराम के समरसतापूर्ण लोक चरित्र की आराधना करता है वह मन सरयू का तट हो गया है और उसका मानस अयोध्या।

श्रीराम की इस कथा को वाल्मीकि ने सबसे पहले शब्दों में गूंथा और फिर यह कथा महाभारत के द्रोण पर्व, अग्नि, गरुड़ और हरिवंश पुराण से लेकर कालिदास के रघुवंश और भवभूति के उत्तररामचरित और दक्षिण के कंबन तक अनेक रूपों में गाई जाती रही। फिर तुलसी तक आते आते रामकथा की सरिता, सागर में बदल गई। तुलसी ने श्रीराम की विरलता को अविरल कर दिया। भवभूति के उत्तररामचरित में एक सुन्दर प्रसंग चित्रांकन पर केन्द्रित है जब श्रीराम और सीता को लक्ष्मण अयोध्या में उन भित्तिचित्रों को देखने के लिए आमंत्रित करते हैं जिनमें उनकी स्वयं की कहानी को तूलिका से उरेहा गया है। इस प्रसंग का आरंभ चित्रों से ही होता है। ऋषि अष्टावक्र श्रीराम के पास आए हैं। वे बातें ही कर रहे हैं कि लक्ष्मण आ जाते हैं और श्रीराम से कहते हैं कि, "उस चित्रकार ने हमारे बताए अनुसार आपके चरित् इस भीत के ऊपरी भाग में उरेहे हैं, उन्हें आर्य देखें।" इस पर देवी सीता और श्रीराम उन चित्रों को देखने लगते हैं। इनमें सीता की अग्निपरीक्षा तक की पूरी कथा अंकित है। पहले उन दिव्य अस्त्रों के सजीव चित्र हैं जो श्रीराम को ताड़का वध के लिए विश्वामित्र से प्राप्त हुए थे। श्रीराम उन्हें देखकर देवी सीता से उन्हें प्रणाम कराते हैं ताकि वे दिव्यास्त्र उनकी गर्भस्थ संतति को अनायास प्राप्त हो जाएं। फिर मिथिला के वृतांत हैं, जिन्हें देखकर मैथिली कहती हैं, "अहो, यहाँ खिलते हुए नवनील कमल से साँवले, स्निग्ध, मसृण, मांसल, सुभग देह वाले आर्यपुत्र को बनाया है।" उन्होंने शंकर के शरासन को कुछ न समझकर तोड़ डाला है और विस्मय-चकित मेरे पिता (जनक)

एकटक उनके भोले मुँह को, जिसपर काक-पक्ष शोभित हैं, देख रहे हैं।' उन्हें चित्र दिखाते हुए लक्ष्मण कहते हैं, 'यह तो देखिए, आपके पिता तथा पुरोहित शतानंद, वसिष्ठ आदि समधियों की अर्चा कर रहे हैं।' राम कहते हैं, 'यह देखने ही योग्य हैं, विदेहों और रघुओं का संबंध, जहाँ दोनों ओर विश्वामित्र ही समधी हैं, किसे न रुचेगा।' देवी सीता विवाह के दृश्य को कहने लगती हैं, 'यह, आप चारों भाई गोदान-मंगल करके विवाह-दीक्षित हुए हैं। अहो, ऐसा लगता है कि मैं उसी स्थान और उसी समय में हूं।

श्रीराम द्वारा हनुमान से प्राप्त बूंटी से राम द्वारा लक्ष्मण का उपचार (16वीं सदी)

श्रीराम को भी वैसा ही अनुभव होता है और वे सीता का ध्यान पाणिग्रहण के दृश्य की ओर आकृष्ट करते हैं। भवभूति ने इस स्थल पर सीता के हाथ का वर्णन बड़े सुंदर शब्दों में किया है। लक्ष्मण इन चित्रों के संबंध में और विवरण देते हैं। भरत की वधु मांडवी और शत्रुघ्न की वधू श्रुतकीर्ति के चित्र दिखाते हैं। इस विवरण के बाद प्रसंग का सर्वश्रेष्ठ अंश आता है। उर्मिला (लक्ष्मण-पत्नी) के चित्र को इंगित करके सीता लक्ष्मण से पूछती हैं, 'वत्स, और यह कौन है ?' लक्ष्मण लजा जाते हैं और मन-ही-मन मुस्कुराते हुए प्रसंग बदलने के लिए परशुराम कांड के चित्र दिखाने लगते हैं। इसी क्रम में वे लोग श्रीराम के किष्किंधा पहुंच जाने तक के चित्रों को देखते हैं और उनके हृदय के प्रसंगानुकूल भांति-भांति के भावों की क्रिया तथा प्रतिक्रिया होती है।

इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि आठवीं शताब्दी में निश्चय ही भिति चित्र रामायण के प्रसंगों के आधार पर बने होंगे, जिनका सजीव वर्णन भवभूति ने किया है, किंतु अब ये भित्तिचित्र या अन्य चित्र उपलब्ध नहीं हैं।

हम श्रीराम के इन विभिन्न रूपों से परिचित हैं लेकिन श्रीराम के उस स्वरूप से हम बहुत कम परिचित हैं जो चित्रों में है विशेष रूप से मध्यकाल की विभिन्न शैलियों में बनाए गए लघुचित्रों में।

भारत में दसवीं शताब्दी से भोजपत्रों व ताड़पत्रों पर बनाए गए सचित्र ग्रंथ व चित्र मिलते हैं। ईस्वी सन् 1020 में ताड़पत्रों पर लिखित रामायण प्राप्त हुई है। रामायण की लोकप्रियता के कारण उसकी अनेक अनुकृतियाँ तैयार की गईं। अभी तक हुए शोधों के आधार पर ऐसी 2000 हस्तलिखित पोथियों का पता चला है तथा जहाँ तक सचित्र पोथियों का प्रश्न है

वे समूचे भारत में मध्यकाल में चित्रित हुई हैं फिर वे चाहे राजस्थान की या पहाड़ की रियासतें हों अथवा दक्षिण भारत के सुदूर क्षेत्र के अंचल। मुस्लिम प्रभाव के कारण सल्तनत काल या पूर्व मुग़ल काल की शैलियों में रामायण के अंकन नहीं मिलते हैं।

लेकिन यहाँ चर्चा उन लघुचित्रों की है जो मध्यकाल में पूरे भारत की चित्रशैलियों में बनाए गए। सबसे पहले अकबर ने रामायण का अनुवाद अब्दुल कादिर बदायूनी से करवाया तथा इसे सचित्र बनवाया। इसमें 136 चित्र थे तथा यह सन् 1588 में पूर्ण हुई। एक और सचित्र रामायण अब्दुल रहीम खानखाना ने सन् 1598-1599 में बनवाई। ये दोनों क्रमशः जयपुर पोथीखाने और फ्रीर गैलरी वाशिंगटन में हैं। मेवाड़ में राजा जगतसिंह के समय साहिबदीन नामक एक कुशल चितेरे ने रामायण के अनेक काण्ड सचित्र रूप से सन् 1649 से 1653 के बीच तैयार किये। मनोहर नामक चितेरे ने बालकाण्ड के चित्र बनाए। ये अंकन ब्रिटिश संग्रहालय लंदन तथा छत्रपति वास्तु संग्रहालय मुंबई (पूर्व का प्रिंस ऑफ़ वेल्स संग्रहालय) में संरक्षित हैं तथा ख्यात कला इतिहासकार जे.पी. लॉस्टी ने इन पर विस्तृत शोध किया है।जे.पी. लॉस्टी के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य मेवाड़ की उस सचित्र रामायण को प्रतिष्ठा दिलाने का था जो मेवाड़ के राजा जगतसिंह (1628 से 1652) के समय में उनके अप्रतिम कलाकार साहिबदीन और मनोहर तथा एक अनाम चितेरे ने बनाई थी। वाल्मीकि रामायण की अनुकृति महात्मा हीरानंद ने की। इसमें रामायण के सातों कांड चित्रित किए गए। इनमें से क्रमशः 2, 4, 6 के सचित्र कांड महाराणा भीमसिंह (1778 से 1828) ने कर्नल जेम्स टॉड को भेंट कर दिए जिन्हें वे लंदन ले गए तथा जिन्हें उन्होंने ड्यूक ऑफ ससेक्स को भेंट किया और जो आज ब्रिटिश लाइब्रेरी लंदन में हैं। जो शेष तीन कांड भारत में रहे उनमें से एक अभी प्राच्य संस्थान जोधपुर में है और शेष छत्रपति शिवाजी महाराज संग्रहालय, मुम्बई (पूर्व प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय), एक व्यक्तिगत संग्रह और बड़ौदा संग्रहालय में हैं। महाराणा जगतसिंह के संरक्षण में रामायण के विभिन्न कांडों पर 400, चित्र तीन चित्रशालाओं में बने।

जेरी लॉस्टी ने रामायण के इन सभी अंकनों को सहेजा और इनका अध्ययन किया। उन्होंने मुझे बताया था कि वर्ष 1971 में जब वे ऑक्सफोर्ड से सीधे ब्रिटिश संग्रहालय आए तो एक युवक के रूप में उनमें भारतीय सचित्र ग्रंथों का अध्ययन करने की तीव्र जिज्ञासा थी। तब तक रामायण के ये खंड ब्रिटिश लाइब्रेरी में स्थानांतरित नहीं हुए थे। रामायण के इतने बड़े आकार के अंकनों को देखकर वे विस्मित हो गए। इन्हें अभी तक कहीं प्रदर्शित भी नहीं किया गया था। इन उपेक्षित से सचित्र ग्रंथों की उन्होंने सुध ली। इनके तमाम संदर्भ खोजे, शैलीगत मिलान किया, निरंतर भारत आकर इनकी कड़ियां

जोड़ीं, कलाकारों के इतिहास को खोजा और सम्पूर्ण रामायण की प्रदर्शनी वर्ष 2008 में लंदन में आयोजित की।

इस अवसर पर उनकी इन अंकनों पर केंद्रित कृति इंग्लैंड और भारत दोनो देशों से एक साथ प्रकाशित हुई। इसी के साथ उनका एक अपनी तरह का इकलौता अभियान आरंभ हुआ और वह था इन चित्रों और इनके पाठ को एक साथ डिजिटल रूप में लाने का तरीका ताकि सामान्य पाठक और विशेषज्ञ दोनों पाठ के साथ इन चित्रों को देखकर रामायण की कथा और उसके मर्म से एकात्म हो सकें। उनका सपना साकार हुआ 21 मार्च 2014 को जब छत्रपति शिवाजी महाराज वास्तु संग्रहालय, मुंबई जिसे पूर्व में प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय के नाम से जाना जाता था तथा जमशेदजी टाटा ट्रस्ट के सहयोग से लगभग एक सौ पचास वर्ष बाद हमारे देश की यह अनमोल धरोहर अपनी संपूर्णता में जगत के सामने आ सकी।

इस अवसर पर आयोजित समारोह में संग्रहालय के निदेशक डॉक्टर सव्यसाची मुखर्जी सहित ब्रिटिश उपउच्चायुक्त तथा विशेष रूप से मेवाड़ के महाराणा अरविंद सिंह जी उपस्थित थे। आज इस संग्रहालय की वेबसाइट पर जाकर एक क्लिक में अपनी इस महान विरासत को हम देख सकते हैं।

रामायण के चित्रों पर ऐतिहासिक कार्य फ्रांस के राष्ट्रीय संग्रहालय म्यूजी गियूमे की प्रमुख डॉक्टर अमीना ताहा हुसैन ओकाडा ने किया है। उन्होंने निरन्तर 10 वर्षों तक पूरे विश्व में घूमकर सभी प्रमुख संग्रहालयों और व्यक्तिगत संग्रहों से रामायण के 10 हज़ार चित्रों में से 660 चित्रों को चुनकर 5 खण्डों में उन्हें फ्रैंच में प्रकाशित किया है। मुगल शैली के बाद के काल में राजस्थान और हिमाचल प्रदेश तथा मालवा और बुन्देलखण्ड सहित पूरे भारत के विभिन्न अंचलों में रामकथा के प्रसंगों के शानदार रूपायन हुए। कांगड़ा, गुलेर, बाहु और बसोहली सहित पहाड़ की विभिन्न शैलियों में और जयपुर, कोटा, बूंदी तथा मेवाड़ सहित राजस्थान की अनेक रियासतों और ठिकाणों में रामकथा चित्रित की गई। पहाड़ की शांग्री रामायण के भावप्रवण अंकन जो विश्व मे विभिन्न संग्रहालयों में संरक्षित हैं हमारी विशिष्ट धरोहर हैं।

श्री रामदरबार, झालावाड़ शैली 19वीं सदी

इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है 'औतारचरित'। इसका मूल नाम है अवतारचरित। यह ग्रंथ हाड़ौती के झालावाड़ अंचल का प्रतिनिधि सचित्र ग्रंथ है। इस ग्रंथ के रचयिता बारहठ नरहरदास हैं जिनका वास्तविक नाम नरहरिदास है। इस सचित्र ग्रंथ से तुलनीय कोई अन्य सचित्र ग्रंथ राजस्थानी शैलियों में शायद ही हो। अद्भुत रंग संयोजन, रेखाओं की लयात्मकता, आनुपातिक आकृतियाँ तथा अत्यन्त कौशल के साथ उरेही गई नैसर्गिक दृष्यावलियाँ इस ग्रंथ की विशेषता हैं। राजस्थानी शैलियों में निर्मित किए गए सचित्र ग्रंथों में यह ऐसा इकलौता सचित्र ग्रंथ प्रतीत होता है जो परवर्तीकाल में अर्थात 19वीं सदी में तैयार किया गया और जिसमें कलम की इतनी बारीकी है अन्यथा 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा 19वीं सदी में कलम स्थूल होने लगती है, रंग बिखरने लगते हैं तथा ब्रिटिश प्रभाव के कारण स्थानीयता विलुप्त होने लगती है। संभवतः यह एकमात्र ऐसा सचित्र ग्रंथ है जिसमें रामचरितमानस के प्रसंगों को चित्रित किया गया है तथा चितेरे ने अपनी कल्पना का प्रयोग करते हुए भी चित्र बनाए हैं।

औतारचरित पांच भागों में सजिल्द रूप में राजकीय संग्रहालय झालावाड़ में संग्रहीत है। इन पांच भागों में दो भाग सचित्र हैं। ग्रंथ के प्रथम दृष्टयावलोकन से यह स्पष्ट होता है कि यह ग्रंथ अपूर्ण है। केवल दो जिल्द सचित्र हैं। पहली जिल्द जो पृष्ठ क्रमांक 1 से 133 तक है उसमें 132 चित्र हैं तथा दूसरी जिल्द में 157 पूर्ण चित्र व 34 अपूर्ण चित्र हैं। पहली जिल्द में अवतारों का विवरण है।

औतारचरित के पहले अंकन में भगवान गणेश के सामने सरस्वती विराजी हैं तथा उनके पीछे एक सेविका अपने हाथ में चंवर लिए खड़ी हैं। इस ग्रंथ में सर्वाधिक दृश्य नरसिंह अवतार पर केन्द्रित हैं। हिरण्यकश्यपु तथा प्रहलाद की कथा को विस्तार से चित्रित किया गया है।

ग्रंथ के अंत में निम्नानुसार पुष्पिका है।

।।इतिश्री वेदव्यास अवतार चरित्रंबारहठनरहरदाससेन विरचितं संपूर्ण।।

।। 5000।। दोहा।। 16।। छंद 44।। कवित्त।। श्री।।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है औतारचरित का यह प्रथम खण्ड दशावतारों से जुड़ी हुई कथाओं पर केन्द्रित है।

ग्रंथ का दूसरा सचित्र भाग पृष्ठ 134 से 325 तक है जिसमें रामकथा चित्रित की गई है। रामायण वाल्मीकि ने रची जिस पर केन्द्रित अंकन प्रायः सभी शैलियों में हुए हैं। इस चित्रांकन की कथा के लिये बहुत विस्तार चाहिये। यह तो केवल छोटी सी झांकी है। यहाँ इन्हीं विभिन्न शैलियों में रचे गए लघुचित्रों की झांकी प्रस्तुत है। जिन महान चितेरों ने श्रीराम को रचा उनकी आस्था और उनका विश्वास भी तुलसी की तरह अगाध और अटूट था। वे भी तुलसी की तरह चातक थे जो निरन्तर अपने मन की आंखों से अपने श्रीराम को निहारकर उन्हें और उनकी कथा को रचा करते थे।

14वीं सदीं में दक्षिण भारत के विजयनगर राज्य की स्थापना के साथ ही वहाँ के वीरभद्र मंदिर लेपाक्षी तथा विठ्ठल मंदिर हम्पी में रामायण की प्रमुख घटनाओं का मण्डप की छत पर चित्रांकन किया गया था। 16वीं सदी में सम्राट अकबर के नवरत्न टोडरमल ने 75 हजार श्लोकों वाले 'टोडरनन्द' काव्य ग्रन्थ का 23 जिल्द में प्रथम बार सम्पादन करवाया था। इस ग्रन्थ में उन्होंने 'रामावतार' का सचित्र वर्णन किया है। इसी समय अकबर के एक और नवरत्न अब्दुर्रहीम खानखाना ने सम्राट के आदेश पर वाल्मीकि रामायण का संस्कृत से फारसी में अनुवाद और श्रीराम के जीवन की प्रमुख घटनाओं को आकर्षक रूप में मुगल शैली में चित्रांकित किया था। इस चित्रांकन में भरत का वन में आगमन तथा श्रीराम से मिलन और अयोध्या चल कर राजपाट संभालने का अनुरोध किया गया है। मुगलकाल की यह चित्रांकन परम्परा कई मायनों में विशिष्ट है। इसमें भरत

के सैनिक एवं सेवक मुगलकालीन वस्त्र पहने प्रदर्शित किये गये है जो विविध रंगों के है। इसमें पगड़ियों पर भी मुगल प्रभाव दर्शित है। कुछ व्यक्ति हाथी के महावतों के रूप में है। हाथियों का श्रृंगार व शारीरिक सौष्ठव उत्तम है। सैनिकों के हाथों में ढ़ाल, तलवार, खड़ग है तथा वे सभी सफेद रंग का पट्टा कमर में बांधे है। उनकी अंगरखी के विन्यास काफी आकर्षक हैं। सारे सैनिक सघन वन से घिरे क्षेत्र में दर्शाये हैं जिसके एक छोर पर चट्टानों के ऊपर स्वयं हिन्दू शाही वेश में मुकुटधारी भरत नील वर्णीय श्रीराम के समक्ष अयोध्या पधारने का निवेदन कर रहे हैं। भरत के पीछे बैठे एक अन्य विशिष्ट जन की मुद्रा भी अनुग्रह भाव की है। श्रीराम शान्त भाव से पीतवस्त्र पहने बैठे हैं। उनके हाथ में धनुष व पीठ पर तरकश बंधा हुआ हे। वे शान्त भाव से भरत के अनुग्रह को स्वीकार न करने की विवशता को दर्शा रहे हैं।

मुद्रा विशेषज्ञ डॉ. शशिकान्त भट्ट के निजी संग्रह में श्रीराम का एक ओर विशिष्ट चित्र मुगलकाल का है जिसमें श्रीराम और अंगद का मिलाप निहारते हुए भगवान ब्रह्मा, शिव, विष्णु और वायुदेव चित्रित है। इस दुर्लभ चित्र में आकाश में तीनो देवों एवं वायुदेव पद्मासन मुद्रा में एक दूसरे से राम अंगद मिलन को निहारने की वार्ता करते विराजे हुए है। इनमें ब्रह्मा तथा वायु को गौरवर्णीय ओपरना तथा धोती एवं माला पहने दर्शाया है, जबकि विष्णु को गहरे श्याम रंग व पीत वस्त्र में एवं शिव को आसमानी रंग से पीतवस्त्र धारण किये दर्शाया है। उनके गले में गहरे नीले रंग का सर्प भी दर्शाया गया है। इनके ठीक नीचे धरती पर एक घने वन में श्याम वर्णीय श्रीराम को राजसी मुकुट (जिस पर मध्य युगीन तीन पंखुड़ियाँ जड़ी हैं) पहने, ग्रीवा में मोतियों की लटकन वाली श्वेतमाला तथा हरे रंग का ओपरना व पीत वस्त्र की धोती पहने दर्शाया है। वे अपने दायें हाथ की अंगुली मुद्रा से समक्ष खड़े वानरराज अंगद को आवश्यक नीति निर्देश देते हुए दर्शित है। उनके पीछे उन्हीं की भांति मुकुट पहने सेवक भाव से लक्ष्मण खड़े हैं। श्रीराम के समक्ष यूथपति मुकुटधारी जाम्बवन्त नील वर्णीय रूप में खड़े हुए हैं वे अपने दोनों हाथों की मुद्रा से श्रीराम को सलाह देते हुए दर्शित है। उनकी धोती, ओपरना भी दर्शनीय है। उनके पास ही श्वेत पगड़ी व श्वेत ओपरना पहने एक धोती धारित सेवक के हाथों में 2 तलवारें तथा लम्बा भाला है। संभवतः यह दृश्य श्रीराम व जाम्बवन्त के मध्य वार्ता तथा दिशा एवं अस्त्र शस्त्र के उपयोग को लेकर दर्शाया गया है।

श्रीराम, अंगद, लक्ष्मण तथा अन्य सेवक वानरों के शीश के मुकुट मध्य युगीन हिन्दू देवों के शीश पर उत्कीर्ण किये जाने वाले मुकटों की भांति है। सभी की वेशभूषा भी पारम्परिक शुद्ध भारतीय है। उनके पीछे वीर वेश में ढ़ाल, तलवार थामें एक अन्य वानर सेवक भी खड़ा है। अंगद के समक्ष ही युद्ध के अस्त्रशस्त्र सिरटोप, भाला, वक्ष कवच, तलवार तथा कमर कटार भी रखी है जिन पर मध्ययुगीन अस्त्रों की शैली है। प्रतीत होता है सारे वानरपति श्रीराम के समक्ष अस्त्रशस्त्रों के संग्रहण की सूचना देने तथा इस दूत नीति पर मार्गदर्शन लेने आये हैं, जो अंगद के साथ हैं।

श्रीराम का एक अन्य विशिष्ट चित्र भी इसी काल का है जिसमें वे वन में स्वर्ण मृग का पीछा करते हुए ऊकेरे गए हैं। चित्र में वृक्ष-वनस्पति तथा पाषाण खण्डों को सुन्दरता से अंकित किया गया है। श्रीराम यहाँ मुकुट पहने ऊकेरे गये हैं। वे अपने हाथों से धनुष पर बाण चढ़ाये स्वर्णमृग पर संधान करने को तत्पर है। उनकी इस मृगया मुद्रा से भयभीत स्वर्णमृग वन में कुलाचें भरते हुए भाग रहा है। उसके सींग तथा शरीर पर स्वर्ण रंग व उन पर गोलाकार हरी-लाल एवं सफेद बिन्दिया व नीचे का श्वेत भाग एवं मुख अत्यन्त प्राणवान है।

यदि इन तीनों विशिष्ट चित्रों का साम्य संत तुलसीदास कृत रामचरित मानस में वर्णित घटनाओं से बैठाया जाये तो इसमें प्रथम चित्र श्रीराम के वन से अयोध्या लौटने का विनय करते भरत का है। रामचरित मानस में संत तुलसीदास अपने निम्न दोहे में यह घटना इस प्रकार रेखांकित करते हैं।

भरत सीलगुर सचिव समाजू। सकुच सनेह बिबस रघुराजू।

प्रभू करि कृपा पाँवरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।।

अर्थात् - 'इधर तो भरत जी का प्रेम और उधर गुरूजनों, मंत्रियों तथा समाज की उपस्थिति। यह देखकर श्रीराम (रघुराज) संकोच एवं प्रेम के वशीभूत (विवश) हो गये। अन्त में उनके प्रेमवश प्रभू श्रीराम ने कृपा करके उन्हें अपनी खड़ाऊ प्रदान की और भरतजी ने उन्हें सम्मान पूर्वक अपने सिर पर धारण किया।'

इसी प्रकार द्वितीय विशिष्ट चित्र श्रीराम जाम्बवन्त की वार्ता का तथा अंगद से श्रीराम की वार्ता निहारते भगवान ब्रह्मा, शिव, विष्णु एवं वायुदेव का है। संत तुलसीदास का इस बारे में रामचरित मानस का यह दोहा सटीक बैठता है -

सुनु सर्बग्य सकल डर बासी। बुधि बल तेज धर्म गुन रासी।

मंत्र कहऊ निजमति अनुसारा। इत पठाइअ बालि कुमारा।।

अर्थात् - 'हे सर्वज्ञ! है सबके हृदय में बसने वाले अर्न्तयामी! है बुद्धि, बल, तेज, धर्म और गुणनिधान! मैं जाम्बवन्त अपनी बुद्धि के अनुसार आपको सलाह देता हूं कि आपके द्वारा बालिकुमार अंगद को रावण के पास अपना दूत बनाकर भिजवाया जाए।'

नीक मंत्र सबके मन माना। अंगद सन कह कृपा निधाना।

बालितनय बुधि बल गुना धामा। लंका जाहु तात मम कामा।। तथा

अर्थात् 'जाम्बवन्त की यह अच्छी सलाह सभी के मन में जंच गयी। कृपा के निधान श्रीराम ने अंगद से कहा- "हे बल, बुद्धि गुणों के धाम बालिपुत्र। तुम मेरे कार्य के लिये लंका जाओ।"

तृतीय विशिष्ट चित्र स्वर्णमृग का वन में पीछा करते धनुर्धारी श्रीराम का है। संत तुलसीदास इस बारे में रामचरितमानस में यह दोहा रचते हैं जो इस चित्र के अंकन पर सटीक बैठता है -

मृगविलोकी कटि परिकर बांधा। करतल चाप रूचिर सर साँधा।।

प्रभूहि बिलोकी चला मृग भाजी। धाए रामु सरासन साजी।।

अर्थात् - 'स्वर्णमृग को देखकर श्रीराम ने कमर में अपना पटका बांधा और धनुष को हाथ में धारण कर उस पर सुन्दर बाण चढ़ाया। यह देखते ही आखेट के भय से श्रीराम को देखकर मृग कुलांचे मारते हुए भागा और श्रीराम भी धनुष चढ़ाकर उसके पीछे भागे।'

श्री राम द्वारा रावण वध
18वीं शताब्दी, पहाड़ी शैली

एक अन्य विशिष्ट चित्र रामायण के पत्र से है। इसमें श्रीराम और परशुराम की भेंट है। राजस्थानी शैली का यह चित्र उदयपुर से प्राप्त हुआ है और वर्तमान में मुम्बई के छत्रपति शिवाजी वास्तु संग्रहालय की चित्रकला विथिका में क्रमांक 54.1/19 पर प्रदर्शित है। चित्रकार मनोहर द्वारा ऊकेरा यह चित्र ईस्वी सन् 1649 का है। यह पूरा चित्र 38 गुणा 2.5 सेमी लम्बा एवं 31.18 सेमी चौड़े पत्र पर है। इसे मेवाड़ महाराणा जगतसिंह के राज्याश्रय में बनाया गया था। यह मूलतः रामायण के बिखरे चित्रों में से एक है। इस कथाचित्र में परशुराम श्रीराम के विवाह की बारात को रोकते हुए हैं। वे श्रीराम को उनकी योग्यता प्रमाणित करने हेतु विशाल शिव धनुष को झुका कर उस पर प्रत्यंचा चढ़ाने की

चुनौती देते हैं। श्रीराम आसानी से धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा लेते है और एक बाण निकालते है। परशुराम इससे अवाक रह जाते हैं और तत्काल उन्हें यह आभास हो जाता है कि श्रीराम कोई असाधारण मनुष्य हैं। चित्रकार ने इस घटना को पूरी सूक्ष्मता और मनोयोग से ऊकेरा है और इस हेतु उसने संकेतों, कथा कहने की तकनीक के साथ-साथ बड़े चटक रंगों का भी सुन्दर इस्तेमाल किया है। प्रस्तुत चित्रांकन में जो तीन अलग-अलग जगहें दिखाई है वे अलग-अलग रंग की पृष्ठभूमि में है। आगे के हिस्से में पंच ऋषि यज्ञ कर रहे हैं। बारात में श्रीराम और उनके अनुज रथों पर सवार हैं तथा उनके पीछे सीता तथा दूसरी महिलायें दो हाथियों पर रखे हौदों में बैठे पीछे आ रही हैं।

परशुराम देवलोक से उतर कर आये हैं, जिसे हल्के बैगनी रंग में दर्शाया गया है। गुस्से में भरे हुए परशुराम काफी बड़े आकार में दर्शाये हैं जिससे उनका व्यक्तित्व इस चित्र में बड़े प्रभावी रूप में उभर आया है। प्रस्तुत चित्र में भगवान विष्णु के दो अवतारों के मिलने के इस पल को निहारने के लिए आकाश में देवता एकत्रित हुए दर्शाये हैं। घटनाओं के क्रम में श्रीराम तथा परशुराम बार-बार दिखाए गए हैं। श्रीराम के अतुलनीय पराक्रम तथा चमत्कार से शांत और विनम्र हुए परशुराम सामान्य मनुष्य के आकार में आ गए हैं और फिर उनके हाथ में धनुष के स्थान पर पुष्प है जो अब सन्धि तथा श्रीराम के प्रति भक्तिभाव का प्रतीक है। सांवले सलोने श्रीराम के हाथ में भी एक पुष्प है जो परशुराम के प्रति आदर समभाव का सूचक है। इस चित्र के अन्तिम कोने में इस घटना का अन्तिम रूप चित्रित है जिसमें परशुराम फिर महेन्द्र पर्वत की ओर तपस्या करने जाते दिखायी देते हैं।

एक विशिष्ट चित्र कला विशेषज्ञ नर्मदा प्रसाद उपाध्याय (इन्दौर) के व्यक्तिगत संग्रह में है। यह चित्र 'राम दरबार' का है जो 19वीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में झालावाड़ कलम की विशेषता का प्रतिनिधित्व करता है। इस चित्र में श्रीराम सीता सहित स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान है तथा उनके एक हाथ में कमल पुष्प है।

दोनों के शीश पृष्ठ में प्रभामण्डल का अंकन व उसके ऊपर अयोध्या नगरी का वैभव प्रकृति प्रदत्त हरियाली के मध्य ऊकेर कर प्राणवान बनाया है। यहाँ श्रीराम एवं सीता ने परम्परागत वस्त्राभूषण धारण किये हैं। श्रीराम का एक पैर नीचे बैठे भक्त हनुमान के घुटनों पर रखे हाथों में है। पीछे दो परिचायक मोरछल लिये हैं व भरत भी इसमें दर्शाये गये हैं।

इस प्रकार भारतीय चित्रांकन परम्परा में श्रीराम का अंकन विशिष्ट गरिमा के साथ मध्यकालीन व उत्तर मध्यकालीन संस्कृति में दिखायी देता है।

*****

रामलीला का लोकनाट्य स्वरूप

नेहा राठी,
उप निदेशक,
राज्य सभा सचिवालय,
संसद भवन, दिल्ली

प्राचीन काल से ही मनुष्य ने हर्ष, आनंद, दु:ख, सुख, भय, प्रेम आदि जैसी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए अनेकानेक भावमुद्राओं, नृत्य, नाट्य, गीत इत्यादि का अवलंब लिया है। नाटक भी एक ऐसा ही माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी भावनाएँ अभिव्यक्त करता आया है। नाटक जैसी साहित्यिक विधा के अंतर्गत लोकनाट्य का अपना एक अलग महत्व है। लोकनाट्य भारतवर्ष की परम्परागत संस्कृति को परिलक्षित करने का एक सशक्त माध्यम होने के साथ-साथ हमारे देश की एक ऐसी सर्वाधिक सम्पन्न कला है जिसकी उत्पत्ति निसंदेह लोकरंजन के लिए हुई थी। भरत मुनि द्वारा बताए गए अभिनय के चार अंगों आंगिक, वाचिक, आहार्य व सात्विक में से अंग-प्रत्यंगों को लोकनाट्यों ने कभी ज्यों का त्यों नहीं स्वीकारा बल्कि जन समुदाय की अभिरुचि के आधार पर लोक नाट्यकारों ने उसमें परिष्कार और विकास किया। लोकनाट्यों में मंचीय नाटकों जैसी शास्त्रीयता नहीं होती किंतु फिर भी परम्परागत संस्कृति में जन्मे और विकसित होने के कारण ये दर्शकों से सीधा तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। लोकनाट्यों में ग्रामीण जीवन के समस्त सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं तथा प्रवृतियों का चित्र उकेरा जाता है। *लोकनाट्यों में मुख्यतः रामायण और कृष्ण लीलाओं पर आधारित कथाओं को इस प्रकार प्रदर्शित किया जाता है कि राम और कृष्ण एक साधारण मनुष्य के रूप में उभर कर सामने आते हैं और दर्शकों का उनसे संबंध सहज ही स्थापित हो जाता है।*

सम्पूर्ण भारत में लोकनाट्यों के विभिन्न रूप देखे जा सकते हैं। भारत के अलग-अलग प्रांतों में अलग-अलग लोकनाट्य प्रचलित हैं जो कि भक्ति प्रधान तथा रंजन प्रधान हैं। यूँ तो भारत के अलग अलग प्रांतों में अलग अलग लोकनाट्य जैसे कि रामलीला, रासलीला, जात्रा, तमाशा, नौटंकी, स्वांग, यक्षगान आदि प्रचलित हैं किंतु इन विभिन्न लोकनाटकों में रामलीला का मंचन शायद सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसका प्रमाण यह है कि केवल भारत के लगभग हर क्षेत्र में ही राम के चरित्र को लेकर रामलीला का मंचन नहीं होता अपितु इसका विस्तार संपूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया तक देखा जा सकता है।

रामलीला

रामलीला उत्तर भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण लोकनाट्य है। उत्तर भारत में परंपरागत रूप से खेला जाने वाला यह नाटक राम के चरित्र पर आधारित नाटक है। इसमें लोक भाषा और लोक संवादों के माध्यम से राम के आदर्श चरित्र को जनमानस तक पहुँचाने का कार्य किया जाता है। यह प्राय: विजयदशमी के अवसर पर दस दिनों तक खेला जाता है।

रामलीला के प्रवर्तक तुलसीदास

भारतीय नाट्य परंपरा में रामकथा के प्रस्तुतीकरण की इस शैली के संकेत तो हमें बहुत प्राचीन समय से मिलने लगते हैं, किंतु इस प्रख्यात नाट्यकला का आदि प्रवर्तक कौन है यह एक विवादास्पद विषय है। ऐसा माना जाता है कि त्रेता युग में श्री राम के वन प्रस्थान के उपरांत अयोध्यावासियों ने 14 वर्ष की वियोगावधि राम की बाललीलाओं का अभिनय कर बिताई थी। तब ही से यह परम्परा चली आ रही है। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार इसके **आदि प्रवर्तक मेधा भगत** थे। रामलीला मंचन के प्रमाण 11वीं शताब्दी के आसपास के मिलते हैं। पहले यह महर्षि वाल्मीकि के महाकाव्य रामायण पर आधारित होती थी किंतु आज जिस रामलीला का मंचन किया जाता है उसकी पृष्ठभूमि तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस पर आधारित है। जनश्रुतियाँ यही कहती हैं आज हिंदी भाषी प्रांतों में रामलीला जिस रूप में प्रचलित है उसके प्रवर्तक तुलसीदास हैं।

नामकरण

रामलीला नाम कब से प्रचलित हुआ और तुलसी ने रामलीला नाम क्यों रखा इस संबंध में कोई तथ्य उपलब्ध नहीं है। रामलीला से पूर्व हनुमन्नाटक नाम के नाटकों का उल्लेख मिलता है। हनुमन्नाटक नाम के नाटकों की शैली और गौतमचन्द्रिका के उल्लेख के आधार पर तुलसी के पहले इस रामनाट्य के हनुमन्नाटक या हनुमत् अभिनय नाम की संभावना की जा सकती है। यह भी लोकमान्यता है कि तुलसी ने ब्रजभूमि की यात्रा में रासलीला देखी थी और उन्होंने उसी की तर्ज पर इस लोकनाट्य को रामलीला नाम दिया।

रामलीला का स्वरूप

रामलीला भारत में परम्परागत रूप से भगवान राम के चरित्र पर आधारित लोकनाट्य है जिसका देश में अलग-अलग तरीकों और अलग-अलग भाषाओं में मंचन किया जाता है। रामलीला का मंचन विजयदशमी या दशहरा उत्सव पर किया जाता है। यूँ तो प्रत्येक भारतीय लोकनाट्य अपने आप में अनूठा है और अपनी अलग-अलग विशेषताएँ लिए है, किंतु इनमें रामलीला का मंचन सर्वाधिक अनूठा है जो इसे अन्य लोकनाट्यों से कुछ भिन्न बनाता है –

1. श्रृंखला नाटक

लोकनाट्य रामलीला की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी प्रस्तुति एक नाटक श्रृंखला के रूप में की जाती है। रामलीला की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि यह कई दिनों के प्रदर्शन क्रम के रूप में प्रस्तुत होती है। राम जन्म से लेकर राम राज्याभिषेक की कथा को विभिन्न नाटकीय दिवसों में विभाजित कर लिया जाता है और एक दिन में एक या अधिक प्रसंग अभिनीत होते हैं। इसी के अनुसार रामलीला कहीं दस या ग्यारह दिन तक चलती है, कहीं पंद्रह दिन तक, कहीं बाईस दिन और कहीं इकतीस दिन तक परंतु आधुनिक प्रयोगों के अतिरिक्त समूची राम कथा एक दिन में कहीं भी प्रस्तुत नहीं होती। प्रदर्शन का यह व्यवहार जहां एक ओर तो दर्शकों को बहुत दिनों तक एक मनोभाव में रहने का अवसर देता है वहीं नाटकीय प्रस्तुतीकरण को गहरी प्रभावशालिता भी प्रदान करता है। रामलीला के स्वरूप, अभिनेताओं को दर्शकों के मध्य आत्मीय और लोकप्रिय बना देते हैं।

2 धार्मिक अनुष्ठान

इस लोकनाट्य की एक अन्य विशेषता यह है कि इसको एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में देखा जाता है। यह कहना गलत ना होगा की रामलीला धार्मिक नाट्य रूप है अतः इसकी संकल्पना ही धार्मिक अनुष्ठान के रूप में की गई है। रामलीला करवाना उसमें अभिनय करना और उसे देखना सभी भक्ति भावना से जुड़े हुए हैं। रामलीला का आयोजन प्रारंभ होने से पूर्व मुकुट पूजन होता है अर्थात स्वरूपों के मुकुटों का शुभ मुहूर्त में पूजन अभिषेक किया जाता है। इन अभिषिक्त मुकुटों को पहनने पर स्वरूपों में देवत्व की प्रतिष्ठा मानी जाती है। प्रत्येक दिन की लीला के प्रारंभ अथवा समापन पर स्वरूपों की झांकी होती है और आरती चढ़ावा होता है। रामलीला के आयोजन के अंतिम दिन राज्याभिषेक में बहुत बड़े समारोह के साथ स्वरूपों की पंचायतन झांकी की पूजा होती है। रामलीला के इन धार्मिक अनुष्ठानों में दर्शकों का सक्रिय सहयोग रहता है।

3. मानसपाठ

सभी पारंपरिक रामलीलाओं में रामलीला के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ रामचरितमानस का पाठ लगातार चलता रहता है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है की रामलीला की संकल्पना मानस की व्याख्या के रूप में ही की गई है। मानस पाठ सभी रामलीलाओं का अनिवार्य अंग है, पारंपरिक रामलीलाओं में संपूर्ण मानस का पाठ साथ-साथ चलता ही है। गेय रामलीलाओं और मंचीय रामलीलाओं के प्रस्तुतीकरण में भी मानस पाठ अनिवार्य समझा जाता है।

4. अभिनेता

रामलीला में भाग लेने वाले सभी व्यक्ति अव्यवसायी कलाकार होते हैं,अभिनय के लिए

उन्हें कोई वेतन नहीं दिया जाता। अधिकतर व्यक्ति रामलीला में अभिनय करना बड़े गौरव की बात समझते हैं। सभी पात्र अपनी भूमिकाओं को बड़े निष्ठा भाव से निभाते हैं। बहुत सी रामलीलाओं में विशेष भूमिकाओं का अभिनय एक वंश से पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है

5. प्रस्तुतीकरण

रामलीला का प्रदर्शन और प्रस्तुतीकरण अव्यावसायिक स्तर पर किया जाता है। लगभग प्रत्येक स्थान पर एक रामलीला समिति होती है। इस समिति के सदस्यों का चुनाव प्रति वर्ष रामलीला में रुचि रखने वाले लोग मिलकर करते हैं। समिति रामलीलाओं के लिए चंदा जमा करती है और उसी से उस वर्ष के प्रदर्शन से संबंधित सभी कार्यों का भार वहन करती है। अधिकतर स्थानों पर एक ही रामलीला समिति होती है और रामलीला का एक ही आयोजन होता है परंतु बड़े-बड़े नगरों में अनेक रामलीला समितियाँ होती हैं और उतनी ही रामलीलाओं का आयोजन।

(क.) रामलीला की पद्धतियाँ

पारंपरिक रामलीला प्रदर्शनों की दो प्रमुख पद्धतियां हैं। झांकीदृश्यों और शोभायात्रा से युक्त अभिनटनपरक पद्धति और संवादों से युक्त नाटकीय पद्धति।

i) अभिनटनपरक पद्धति

इस पद्धति की रामलीला में मानसपाठ होता है और अभिनेता बीच-बीच में अभिनटन करते हैं। संवाद अत्यंत संक्षिप्त होते हैं। इनमें कुछ प्रसंगों के प्रस्तुतीकरण में स्वरूपों और दूसरे पात्रों की नाटकीय परिदृश्यों के रूप में सजे हुए यानों पर शोभायात्रा निकाली जाती है। साथ-साथ दूसरे यानों में मानस का पाठ करते हुए रामायणी चलते हैं।

ii) *नाटकीय पद्धति*

रामलीला के प्रस्तुतीकरण की दूसरी पद्धति संवादपरक है। उसमें रामकथा के प्रसंगों को संवादों में ढ़ालकर एक-एक प्रसंग के नाटकीकृत रूप का एक लंबा आलेख तैयार किया जाता है। इस आलेख को तैयार करने में मानस के अतिरिक्त दूसरे राम साहित्य से भी संवाद लिए जाते हैं। इस पद्धति में अनेक गीत,लोकगीत आदि समाविष्ट हो जाते हैं।

यह एक विशेष बात है की रामलीला चाहे किसी भी पद्धति की हो कुछ लीलाओं का प्रस्तुतीकरण एक ही तरह से होता है, जैसे राम - जन्म और और राम - राज्याभिषेक की प्रसंग झाँकी के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं और रावण वध लीला में रावण और कुंभकरण के बड़े-बड़े कागज के पुतले बनाकर मैदान में खड़े कर दिए जाते हैं। राम और लक्ष्मण किसी रथनुमा यान में बैठकर आते हैं और कुछ देर युद्ध का सा अभिनय करके एक जलता हुआ लकड़ी का तीर फेंक कर उन पुतलों में आग लगा देते हैं। उनमें भरे हुए पटाखों का तीव्र स्वर दूर-दूर तक असत्य

पर सत्य की विजय घोषित करता हुआ प्रतीत होता है। दशहरे के दिन प्रस्तुत की जाने वाली यह लीला हर रामलीला का मुख्य आकर्षण होती है।

(ख.) रामलीला की विभिन्न शैलियाँ

रामलीला की देश में प्रचलित शैलियों में अयोध्या शैली, ब्रज शैली, काशी शैली, हाडौती शैली, असमी शैली, मधुबनी शैली, कर्नाटक शैली, पर्वतीय शैली प्रसिद्ध हैं। बुंदेलखंड तथा मध्य भारत क्षेत्र में इसका विकास अखाड़ा, स्वांग तथा माच शैलियों के माध्यम से हुआ। उत्तर भारत में मंच सजाकर अभिनय द्वारा रामलीला मंचन का स्वरूप गोस्वामी तुलसीदास के समय से विकसित हुआ। वास्तविकता यह है कि उस समय रामलीला का मंचन मैदानी, जुलूसी तथा मंचीय त्रिवेणी शैली में था। लीलाएं मैदान में होती थीं फिर जुलूस बनकर चलती थीं और अंत में मंचीय स्वरूप ग्रहण कर लेती थीं।

रामलीला का वैश्विक स्वरूप

राम की कथा का विस्तार केवल सम्पूर्ण भारत में ही नहीं अपितु संपूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया तक देखा जा सकता है। दक्षिणी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के लगभग सभी देशों में किसी न किसी रूप में रामलीला होती है। थाईलैंड, श्रीलंका, और जापान में भी रामकथा का महत्व है। दक्षिण-पूर्व एशिया के इतिहास में कुछ ऐसे प्रमाण मिलते है जिससे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में प्राचीन काल से ही रामलीला का प्रचलन था। आग्नेय एशिया के विभिन्न देशों में रामलीला के अनेक नाम और रुप हैं। उन्हें प्रधानत: दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है- मुखौटा रामलीला और छाया रामलीला। कंपूचिया में रामलीला का अभिनय ल्खोनखोल के माध्यम के होता है। मुखौटा नाटक के माध्यम से प्रदर्शित की जाने वाली रामलीला को थाईलैंड में 'खौन' कहा जाता है। इसमें संवाद के अतिरिक्त नृत्य, गीत एवं हाव-भाव प्रदर्शन की प्रधानता होती है। बर्मा की मुखौटा रामलीला को यामप्वे कहा जाता है। विविधता और विचित्रता के कारण छाया नाटक के माध्यम से प्रदर्शित की जाने वाली रामलीला मुखौटा रामलीला से भी निराली है। इसमें जावा तथा मलेशिया के 'वेयांग' और थाईलैंड के 'नंग' का विशिष्ट स्थान है।

निष्कर्ष

रामलीला सभी भारतीय लोकनाट्य कलाओं में एकमात्र ऐसी नाट्यकला है जो किसी एक क्षेत्र विशेष तक ही सीमित नहीं है। हमें इसका विस्तार न केवल सम्पूर्ण भारत वर्ष में देखने को मिलता है बल्कि विश्व के अन्य भागों विशेषकर दक्षिणी पूर्वी एशिया में भी देखने को मिलता है। इस क्रम में सबसे चौंकाने वाली बात यह है कि क्षेत्रीय विविधता आ जाने के बावजूद इसमें एकरूपता के दर्शन होते हैं। लोकप्रियता और व्यापकता की दृष्टि से इसका हमारे जीवन में विशिष्ट स्थान है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि रामलीला ही एक ऐसा नाट्य रूप है जो एक समूचे समुदाय की धार्मिक, सांस्कृतिक और कलात्मक अभिव्यक्ति है।

*****

प्रकृति का जीवन संगीत हैं ये आदिवासी लोकगीत

पद्मा मिश्रा,
जमशेदपुर, झारखंड

इन्द्रधनुषी परंपराओं और गंगा जमुनी संस्कृतियों वाले हमारे देश में आदिवासी वनवासी तथा जनजातियों की संस्कृति समृद्ध एवं प्रबुद्ध रही है। प्रकृति के सुरम्य आंचल में बसा हुआ क्षेत्र संस्कारों एवं परंपराओं से भी अछूता नहीं है, यहां के त्योहारों, पर्वों, वैवाहिक अवसरों और जन्म से मृत्यु तक गाये जाने वाले लोकगीतों में प्रकृति उन भोले भाले आदिवासी समाज एवं वनांचल वासियों की सहचरी बन कर साथ चलती रही है। हमारे देश के विभिन्न प्रदेशों मे सैकड़ों आदिवासी वनवासी मूलवासी जनजातियां रहती हैं। सबकी भाषाएँ अलग अलग हैं, संस्कृति अलग है। इसी कारण लोक साहित्य में भावों की अभिव्यक्ति में भी अंतर पाया जाता है। लेकिन भावनाओं का उत्स एक ही रहता है, वह है – हृदय।

जहां सुख-दुख हर्ष विषाद की भावनाएं जन्म लेती हैं और जहां किसी भाषा की अपनी लिपि नहीं होती है वे लोक साहित्य में बहुत समृद्ध होती हैं। पेड़, पहाड़, नदी पत्थर जंगल पथरीले रास्तों के साथ उनकी कथा कहानियों किंवदंतियों की सांस्कृतिक विरासत लोकगीतो के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं।

इन लोकगीतों में मानव समाज का पारिवारिक एवं भावनात्मक चित्रण रहता है, जीवन के विविध पहलुओं और परिस्थितियों में मनुष्य के मानसिक एवं शारीरिक क्रियाकलापों की समन्वयात्मक प्रस्तुति भी होती है, या दूसरे शब्दों में कहें तो इन लोकगीतों में सामूहिक चेतना की लोकपुकार शामिल होती है और मन की यही दशा अनुभूति का रुप धारण कर जब राग व स्वर के रूप में प्रस्फुटित होती है तो लोकगीत बन जाती है। हमारे छोटा नागपुर क्षेत्र जहां झारखंड की वैभवशाली लोक-संस्कृति पनपती है, वह प्रकृति के नजदीक होने के कारण उनके सुख-दुख, हर्ष विषाद के पलों में भी शामिल होती है, तब मिट्टी गा उठती है, खेत खलिहान गुनगुनाने लगते हैं, इन लोकगीतों की रचना स्वतः होती है, जिनके माध्यम से जन जीवन के सभी पक्षों के दर्शन होते हैं, जुड़ाव ही है जो श्रोताओं के मस्तिष्क पटल पर गहराई से छाप छोड़ता है और जिसमें श्रोतागण अपने सुख-

दु:ख के अनुभव की गाथा को टटोलने का प्रयास करते हैं, प्रायः अन्नदाता वर्ग की मनःस्थिति कृषिगत कार्यकलापों तथा पारिवारिक जीवन की दुश्वारियों के इर्द-गिर्द ही रमती रहती है। लोकगीतकार कृषक समाज की मनःस्थिति से भलीभांति परिचित होता है जिसकी झलक विरहा, रोपनी, व मल्हार आदि लोकगीतों में बखूबी देखने को मिलती है।

जहाँ तक असम और पूर्वोत्तर आदिवासी बहुल समाज और उसकी संस्कृति की बात है वहां विभिन्न जन जातियों का प्रभाव वहां की भाषा, पोशाक, रीति रिवाज, उत्सव, दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं के नाम आदि में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। साहित्यकारों के द्वारा सृजित कृतियों के माध्यम से यह प्रमाणित हो चुका है कि नेग्रिटो, आष्ट्रिक, द्रविड़, मंगोल आदि के साथ साथ सभी जनजातीय सम्मिश्रण से असमिया जनजाति का जन्म हुआ है, अतः असम में प्रचलित लोक साहित्य की चर्चा हो तो लोकगीतों और लोकसाहित्य ने जनमानस की सुख दुख संवेगात्मक, अनुभूतियों, विश्वास, मान्यताओं, परंपरा और संस्कृति का स्वर मुखर रहा है, प्रकृति भी उनके जीवन में शामिल रही है। हमेशा, अपेसरी के गीतों में दुर्गा की ही एक तरह से स्तुति की जाती है।

जोने बेलिये लगे भटियाले लगत जाय तामुली तरा,

क्षणेक रोइ जोवा आई अपेसरी लोइ जोवा कुमारी पूजा।

नामे सेवा कोइ गोपिनी पाठे तुष्ट होवा भगवती ए

सुदूर आदिवासी गाँवों में प्रचलित विभिन्न प्रकार के पारंपरिक धार्मिक अनुष्ठानों में भी विभिन्न प्रकार के लोकगीत गाये जाते हैं। असम में भी ऐसे अनेक, पूजा कर्म एवं अनुष्ठान हैं जिनमें देवी देवता और प्रकृति को संबोधित करके भी गीत गाए जाते हैं, आईनाम:- चिकन पॉक्स बीमारी को यहाँ वसंत कहा जाता है। यह एक संक्रामक रोग है और इससे लोगों की मृत्यु तक होती है, इसकी अधिष्ठात्री देवी के रूप में शीतला माता की कल्पना करके, उनकी पूजा होती है उन्हें संतुष्ट करने के लिए विविध प्रकार के गीत, पद आदि गाते हुए शीतला पूजा की जाती है।

उदाहरण:- मानाहरे पानी आनाले भवानी, तामारे कलसी लोइछयकुर ब्राह्मणे चंडीपाठ पढ़िछे, शीतलाक आगते लोइ।

लोकसंगीत असम एवं पूर्वोत्तर आदिवासी कला और संस्कृति का एक अभिन्न हिस्सा है। परंतु स्थान विभिन्नता होने पर भी उनकी संस्कृति और परंपराओं में कोई अंतर नहीं आया है। लगभग एक जैसे पर्व त्योहार एक समान ही नदी, पहाड़, पेड़ की अभ्यर्थना के गीत, देश के विभिन्न प्रांतों में फैले वनवासियों के बीच एकता की सशक्त कड़ी के रुप में उन्हे बांधे रखते हैं। चाहे झारखंड, छत्तीसगढ, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, बस्तर

हो या उत्तराखंड, पूर्वोत्तर के अतिरिक्त सुदूर अंडमान के आदिवासी हों, ये लोकगीत, पर्व और परंपराएं उनकी साझा धरोहर है, विविध समुदायों के लोगों ने विभिन्न जगहों में यहां के लोकसंगीत को बढ़ाया है, महाभारत के विभिन्न वीरता प्रसंगों पर आधारित इन लोक गीतों को, गायक तम्बूरा लेकर गाता है तथा साथ ही साथ वह अभिनय भी करता है। गायक के अन्य कलाकार साथी वाद्य यंत्रों की सहायता से सुरताल के संयोजन के साथ मुख्य गायक के साथ गाते भी हैं, और गीत के बीच-बीच में हुंकार भी भरते रहते हैं। ऐसे आदिवासी लोकगीत ओज, उत्साह और जोशीले होते हैं, जैसे पंडवानी गाने वाली प्रसिद्ध गायिका तीजनबाई को हम सबने सुना है।

पंथी गीत : यह छत्तीसगढ़ के सतनामी आदिवासियों का परम्परागत नृत्य गीत है। गुरु घासीदास के पंथ से पंथी नाच का नामकरण हुआ है। विशेष अवसरों पर सतनामी 'जैतखाम' की स्थापना करते हैं और उसके आस-पास गोल घेरे में नाचते-गाते हैं। इसकी शुरुआत देवताओं की स्तुति से होती है। गायन का प्रमुख विषय गुरु घासीदास का चरित्र होता है। पंथी नृत्य में आध्यात्मिक संदेश के साथ मानव जीवन की महत्ता भी होती है। ऐसे ही लोकगीत बंगाल के आदिवासी बाउल संप्रदाय के भक्त गाते हैं।

बिरहा : यह बुन्देलखंड की सुपरिचित लोकगीत गायन शैली है। यह नृत्य गीत बघेलखंड की लगभग सभी जन जातियों में प्रचलित है। इसका कोई निश्चित समय नहीं होता है। किन्तु गोंड एवं बैगा आदिवासियों में बिरहा गाने की प्रथा विवाह एवं दीपावली के अवसर पर देखी जाती है। यह एक श्रृंगारपरक बिरह गीत है। बिरहा में प्रायः लड़की के विरह का वर्णन होता है। यह प्रश्न पूछने के अंदाज से ऊंची टेर लगाकर गाया जाता है। बिरहा प्रायः पुरुषों द्वारा व कभी-कभी स्त्री-पुरुष दोनों गाते हैं। इस अवस्था में स्त्री-पुरुषों के मध्य सवाल-जबाब होता है, साथ-ही-साथ नृत्य किया जाता है,बारात में बिरहा गाने की होड़ देखी जा सकती है।

भारिगान : असम के राभस का लकड़ी का नाट्य मुखौटा भारिगान के प्रदर्शन से जुड़ा है। अप्रचलित नाट्य नाटक प्रतीत होता है, जिसे असम के राभा समुदाय द्वारा उपयोग किया जाता है। इसमें स्थानीय लोककथाओं और हिंदू पौराणिक कथाओं के विभिन्न विषयों पर प्रदर्शन है, सुदूर झारखंड में भी ऐसे ही नाट्य, गीत मुखौटे लगाकर गाये जाते हैं और पौराणिक गाथाओं को गाकर छऊ नृत्य करते हैं, जिसे देश विदेश में भी काफी प्रसिद्धि मिली है।

छऊ नृत्य झारखंड का पारंपरिक नृत्य है जिसमें कलाकारों द्वारा मुखौटे लगाकर और रंगीन चित्ताकर्षक परिधान धारण कर रामायण, महाभारत, दुर्गा स्तुति आदि विषय वस्तुओं पर मनमोहक नृत्य----ढोल - नगाड़े की तेज

आवाज, तीव्र मंत्र ध्वनि और बिजली सी त्वरित चाल के साथ प्रस्तुत अपनी विमोहक भाव - भंगिमा में अद्भुत उपस्थिति लेकर दर्शकों के समक्ष उद्भाषित होता है जैसा कि दक्षिण में कथकली। इनमें केवल पात्रों और नर्तक का परिचय देते समय गीत गाते हैं।

झुमुर :- झुमुर गीतों की एक पारंपरिकता है, जो आदिवासियों के दिन-प्रतिदिन के कार्यों पर आधारित है। एड़ियों के चारों ओर घंटियों के बाइंडिंग क्लस्टर की विशेषता के कारण इसको झुमुर के नाम से जानते हैं। ये गीत बहुत ही रोचक और दर्शनीय नृत्य के साथ गाये जाते हैं। न केवल असम या पूर्वोत्तर बल्कि झारखंड, छत्तीसगढ, नागपुर, उड़ीसा के आदिवासी बहुल क्षेत्रों में अत्यंत लोकप्रिय हैं।

झुमुर एक लोकप्रिय स्थानीय संगीत शैली है, और तांती ढोल के थापों और बांसुरी की धुनों के बारे में विस्तार से उल्लेख करते हैं।

ये गीत सदरी भाषा में गाए गए हैं और इन्हें प्रस्तुत करने वाले विभिन्न आदिवासी समूहों के लोग हैं, जो यहां मध्य, दक्षिणी और पूर्वी भारत - अर्थात बिहार, झारखण्ड, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और तेलंगाना से असम के चाय बाग़ानों में काम करने आए हैं। इसलिए उनके लोकगीतों में विभिन्न भाषाओं के शब्द घुल मिल गए हैं।

बिहुगेट : यह बिहू त्योहार का एक अभिन्न अंग है। रोंगाली बिहू के हुसोरी के दौरान, ग्रामीण, समूहों में, हर घर के दरवाजे पर जाते है, खुशी से गाते हुए कैरोल गाते हैं। इन कोरस समूहों को हसोरी पार्टियों के रूप में भी जानते हैं और इसमें केवल पुरुष भाग ले सकते थे, फिर वे ढोल नगाड़ों के साथ अपने आगमन का संदेश देते हुए अपने घर के द्वार तक पहुँचते हैं,'तमुल' के साथ गृहस्वामी का धन्यवाद करने के बाद गायकों के घर पर नए साल का आशीर्वाद लेते हैं,

*** कियाल दिलो थाकिबे,**

पोयला, आमिर सोना आनिये छे,,

ओ कोमोलिया !*

सीमा की दृष्टि से प्रदेश के पश्चिम में बंगाल है, अन्य दिशाओं में भी कई परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से तिब्बती, बर्मी तथा खासी मुख्य हैं, इन सीमावर्ती भाषाओं का गहरा प्रभाव आदिवासियों की मूल प्रकृति में देखा जा सकता है, असमिया के अलावा भी अन्य कई भाषाएं बोली जाती हैं, जिनमें नेपाली, बंगाली, बिहारी, मणिपुरी, राजस्थानी एवं अन्य जनजातीय भाषाएं प्रमुख हैं।

इनके लोकगीतों में मानव समाज का पारिवारिक एवं भावनात्मक चित्रण रहता है, जीवन के विविध पहलुओं और परिस्थितियों में मनुष्य के मानसिक एवं शारीरिक क्रियाकलापों की

समन्वयात्मक प्रस्तुति भी होती है या दूसरे शब्दों में कहें तो इन लोकगीतों में सामूहिक चेतना की लोकपुकार शामिल होती है और मन की यही दशा अनुभूति का रुप धारण कर जब राग व स्वर के रूप में प्रस्फुटित होती है तो लोकगीत बन जाती है।

ओरें भाइ फागुन लोगेछे बोने बोने

डाले डाले फूले फूले पाताये पाताये रे

अडलि अडलि कोने कोनो

<u>संस्कार गीत</u>

आदिवासी बहुल क्षेत्रों में जन्म से लेकर मृत्यु तक इन लोकगीतों की अहम भूमिका रहती है, जिन्हें संस्कार गीत भी कहते हैं। उन गीतों में धरती की पूजा, देवठान, रोपनी, जन्म, विवाह गवना, तुलसी पूजा, खेत जोताई के गीत भी शामिल रहते हैं। विवाह संस्कार व्यक्ति के जन्म के बाद सबसे महत्वपूर्ण संस्कार होते हैं, ये संस्कार गीत सोलह दिन पूर्व से ही प्रारंभ हो जाते हैं, जिनमें झूमर, डोमकच, लहसुआ आदि गीत गाए जाते हैं, जिस दिन विवाह का शगुन उठता है, उस दिन दाल की बडिया डालते समय स्त्रियां गीत गाती है-----

*****घर में सोभलय बाढल बेटी हाय ये**

कुटुम लागते बेटी,उइठ गेलई, हाय ये

घर मोरा सून भेल ई हाय ये**

इस दिन के बाद वर वधू को उबटन लगाया जाता है--*हल्दी चंदन फूल उबटन

राम के अंग चढावे

सुमंगल करन,***

और युवतियां झूम झूम कर डोमकच गाती हैं,-- *केकर लागिन अइयो में झालर मंडवा

केकर लागिन रोइना लगाया*

प्रकृति पूजा के गीत

इन विविध अवसरों पर गाए जाने वाले झारखंडी नागपुरी, असमी, संथाली, लोकगीतों में प्रकृति प्रधान तत्व होते है, जहां गांव हैं, जंगल हैं, कहीं कहीं तो जंगल में ही गांव बसे हैं, अब विकास के साथ ये जंगल भी कटते जा रहे हैं, और गांव शहर बनते जा रहे हैं, फिर भी लोकगीत जिंदा है आदिवासी संस्कृति जिंदा है, जिनमें प्रकृति के उतार चढ़ाव के साथ साथ ऋतु परिवर्तन से जुडे बारहमासा गीत बहुत प्रचलित हैं,---**ओदे ओदे ये

बरसत बूंद भादों कै

दादुरी सैलत ओदे रे भाई

डसली सुरमती भेजा सेबली

एकला बूंद भादों में**

फागुन आने के साथ ही प्रकृति का रूप बदल जाता है, चारों ओर मादकता छा जाती है तब धरती पर रागमयता बढ़ जाती है, मन स्वयं गा उठता है--*वन उपवन कुसुमाई हो

तरूण मानो अरु छवि छाई हो

बाइक मोर बार बार करें सोर

चलूं पाहन देवता बनावे हो

आगे मुरगी चेजन सेंटर

पीछे चौहान पुजावे हो*

कल कल करते झरने, घने वन, अनेक जातियों और जनजातियों से भरे हमारे देश में ये आदिवासी त्योहार भी बखूबी मनाये जाते हैं, एक प्रकृति की पूजा का त्योहार सरहुल यहां झारखंड में शामिल प्रचलित है जिसे फूलों की होली का पर्व भी कहा जाता है, नृत्य गीत तो यहां की संस्कृति में रचा बसा है, अतः सरहुल में भी विविध लोकगीत गाए जाते हैं--- और कर्मा परब में भी जिसमें कर्मा पेड़ की डाल की पूजा होती है,

***आजु वो राजा कर्मा**

घरे द्वारे,,,कालु तो कर्मा राजा

खास नदी पीरे*

इसी प्रकार बेहद लोकप्रिय एवं राग रंग, पवित्रता का उत्सव है*टुसू पर्व* जिसमें टुस की प्रतिमा स्थापित कर के उसकी पूजा की जाती है, नृत्य गीत,नये वस्त्र धारण कर के लोग नियमपूर्वक आराधना करते हैं आदिवासी महिलाएं नाचती गाती हुई बहुत मग्न हो जाती है,

आमार पानखीली सुखाय गेलों

भावेर बोन्धा कोन पथे गेलों* (मेरा प्रिय के लिए लाया

हुआ पान सूख गया है, और वो मेरे भाव का साथी न जाने कहां चला गया है)

इसी प्रकार एक और पर्व है सोहराय,यह धान रोपाई से जुड़ा त्योहार है जिसमें महिलाएं खेतों की, धरती माता की पूजा करके धान रोपती हुई गाती हैं--

***अरे हो केकरा सिरजल दियवा,,**

कुम्हरा के सिरजल दियवा

धोतियां के सिरजल बाती रे** भारत की धरती अनोखी है, जीवन संघर्षो से जूझते हुए भी यहां के आदिवासी उल्लासमयता राग रंग लोकगीतों की गायकी का एक भी अवसर नहीं छोड़ते, यहां तक कि दुःख और पीड़ा में भी गीत है, उदास मन के गीत जहां मृत्यु अथवा शोकगीतों के रूप में निर्गुण गीत गाए जाते हैं-

-*पोसल मयना दैया बोल उडि खेला

बोनै बोने मरना कादय, झरोझर गाई**

जीवन, जन्म से लेकर मृत्यु तक ये लोकगीत ही संस्कृतियों को संजोये रखते हैं,

श्रम गीत -

ग्रामीण आदिवासी महिलाएं परम्परागत रूप से कृषि कार्य में दक्ष होती हैं। वे कृषि कार्य में पूर्णतया समर्पित तथा एकाग्रचित होने के लिए

लोकगीतों को गुनगुनाती हैं। प्रायः महिलाएं जब धान रोपने तथा निर्वाही करने खेत में जाती हैं, तो अपनी व्यथा (पारिवारिक जीवन की कटुता, प्रेम आदि) व आकांक्षाएं (गहने, जेवरात, शहर व तीर्थ दर्शन आदि) 'रोपनी' व 'सोहनी' नामक गीत से व्यक्त करती हैं, जो बरबस ही हर किसी का मनमोह लेती है।

हरिहर काशी रे हरिहर जवा के खेत, हरिहर पगड़ी रे बांधे बीरन भैया

चले हैं बहिनिया के देस।"

सावन के महीने यूँ भी लड़कियों को मायके की याद आती है, गीतों में भाई के आने का उल्लेख बहुत ही कोमलता से बहन दवारा गाया जाता था।

"केकरे दुआरे घन बँसवारी
केकरे दुआरे फुलवारी, नैन रतनारी हो
बाबा दुआरे घन बंसवारी
सैंया दुआरे फुलवारी, नैन रतनारी हो"

आदिवासी समाज में कीड़ों से रेशम के धागे बनाने का चलन है। सूत काटते समय भी गीत गाये जाते हैं, स्वतंत्रता आंदोलन के समय चरखे से सूत काटना जब स्वावलंबन और देशप्रेम का द्योतक बन गया तो इस प्रकार लोकगीत गाये गए-

यँतरते भक्ति आमार यँतरते मुक्ति आमार, यँतरते गाउ जय गान।

अर्थात् हमारी भक्ति चरखे में हैं, चरखे में ही मुक्ति है, चरखे का हम जयगान करते हैं। ठीक उसी प्रकार अन्य एक लोक गीत इस प्रकार है-

गांधी नामर नौका खनिये, जवहर नामर बोठा,
स्वराज आनिबाके लागि, हाते काटा सूता।

अर्थात् गांधी और जवाहर नाम का नौका है, हाथ से कटे धागे से स्वराज लाना है..

हल चलाने के गीत:- आदिवासी, समाज मूलत: कृषिजीवी समाज है, हल चलाते समय जो गीत गाये जाते हैं वह कुछ इस प्रकार है-

ओ बूढा हालुवा ऐ
हाल गाथिब नरा
कथाई बागरि फुरा
मन बूढा पगला ऐ*

खेतों में काम करते समय, सूत निकालते या हल चलाते समय मछली पकड़ते समय अपने श्रम का परिहास करने के लिए सदियों से ये श्रम गीत गाये जाते रहे हैं।

वस्तुत: लोकगीत किसी भी संस्कृति के प्राण होते हैं, ये संजीवनी हैं लोक मन की उदासीनता और श्रम संघर्षों में जीवन देने वाले, दिन भर की थकान दूर कर जब ये वनवासी किसान और श्रमजीवी मजदूर विश्राम करते हैं तो वे नाच गाकर नयी उम्मीद जगाते हैं, आने वाली जीवन की नई सुबह के लिए।

*जोहार !

*****

श्रमगीतगंगी

अनन्त आलोक,
साहित्यालोक बायरी डाकघर ददाहू,
जिला सिरमौर, हिमाचल प्रदेश

लोकगीतगंगी पारंपरिक और एक त्रिपदिक लोक छंद है। इसकी शुरुआत कब हुई कहा नहीं जा सकता। लेकिन पंजाब में माहिया और हिमाचल में गंगी की बड़ी लम्बी परंपरा रही है। यह एकमात्रिक छंद है और आज भी हिंदी तथा पंजाबी में भी लिखा जा रहा है। हालाँकि इस छंद पर कवियों का कोई विशेष ध्यान आज नहीं है, वैसे तो छंद से ही दूर है आज का कवि। इसी लिए कविता आम जनमानस से दूर होती जा रही है; इस पर फिर कभी बात होगी, फिलहाल कहना यह है कि माहिया ही हिमाचल में गंगी के नाम से प्रचलित था जो अब छिटपुट ही मिलता है। हैरानी की बात है कि श्रमगीत के नाम से प्रचलित इस लोकगीत को आज की युवा पीढ़ी जानती ही नहीं।

बारह दस बारह के इस मात्रिक छंद में वाचिक परंपरा का निर्वाह होता है। इसके प्रथम और तृतीय पद में समान्त यानी काफिया रहता है और बीच का पद स्वतन्त्र रहता है। किसी भी परंपरा में इसे समझने के लिए वहां के डायलेक्ट की वाचिक परम्परा से वाकिफ होना निहायत जरुरी है। हिमाचल में सिरमौर, सोलन, बिलासपुर, मंडी, ऊना, शिमला और चम्बा में इसका प्रचलन रहा है, जहाँ आज भी कुछ लोग इसके बारे में जानते हैं। आज की तारीख में गंगी लगभग लुप्त प्राय विधा है। इसके भाव पक्ष पर थोड़ी बात करूँ तो इसमें शुरू में प्रेम और प्रेम प्रस्ताव गंगी के माध्यम से दिए जाते थे। इसे श्रम गीत कहा जाए तो कोई अतिश्योक्ति न होगी, क्योंकि ये गीत खेत-खलिहान, जंगल या रास्ते चलते जोर जोर से इस मकसद से गाये जाते हैं कि कहीं दूर जंगल, खेत में या रास्ते से कोई जा रहा हो तो वह सुने और फिर जवाब दे।

इसकी शुरुआत नायक या नायिका में से कोई भी कर सकता है जिसका जवाब उसे देना होता है जिस पर यह प्रस्ताव या तंज किया जा रहा हो जिसे निशाना बना कर यह गाया जाता है या जिस से सवाल पूछा जा रहा हो, वह समझ ले और उसके पास इसका जवाब हो तो वह अवश्य देता है। इसमें सवाल-जवाब रहते हैं। यदि सामने वाला समझ न पाए या जवाब नहीं दे पाए तो एक दो गंगी और गाई जाती है और फिर अंत में गंगी में यह गाया जाता है कि तुम हार गए हो, तुम्हें जवाब देना नहीं आता है। गंगी बरसात के मौसम में विशेष रूप से गाई जाती है। इसकी एक विशेषता यह भी है जिसकी वजह

से इसे श्रमगीत के रूप में जाना जा सकता है वह यह है कि इसे वाद्य यंत्रों के साथ नहीं बल्कि इनके बिना ही घर से दूर गाया जाता रहा है। हालांकि आज कुछ लोकगायकों ने इसे संगीत सहित रिकॉर्ड करवा कर संरक्षित किया है और आम जन में फिर से प्रचलित करने का प्रयास किया है फिर भी यह बहुत कम लिखी जा रही है। विशेषकर कविता की एक उपविधा के रूप में तो बहुत ही कम। हिमाचली लोक परंपरा में असंख्य गंगियाँ प्रचलन के पिछवाड़े भले ही खड़ी हों लेकिन उनके जानने वाले कुछ लोग हैं अभी, मेरे संग्रह में भी असंख्य ऐसी पारंपरिक गंगियाँ हैं, उनका भी भविष्य में किसी अंक में उल्लेख करूँगा। इस नाचीज ने गंगी छंद को आधार मानकर सिरमौरी में नए बिम्ब, प्रतीकों और फैंटेसी का प्रयोग करते हुए आधुनिक भाव-बोध को गंगी के शिल्प में ढालने का लघुत्तम प्रयास किया है जिसकी बानगी आप नीचे हिंदी भावार्थ सहित देख पढ़ सकते हैं:

म्हारे बातो रे बे होए कुम्बड़े,
बातो लांदे खोड़िए नाथी।
नींज आई गुई तेरे कुम्बड़े।1।

नायक: मेरे और तुम्हारे बीच इतनी बातें हुईं कि उनके भारे यानी गट्ठर बांधे जा सकते हैं। हम बातें करते-करते थके नहीं अब तो ऐसा लगता है कि मुझे तुम्हारी गोद में ही नींद आ जाएगी।

बातो लाय लोई निच्छ्ले जिये,
तेरा ए शड़ाना न आथी।
पट लाय राखा लोको री धिये।2।

नायिका: मैं तुम्हारे साथ जो भी बातें कर रही हूँ वह सब साफ़ मन से कर रही हूँ। मेरे मन में ऐसा-वैसा कोई भाव नहीं है और जिस पर तुम्हारा अपना सिर है यह तुम्हारा तकिया नहीं है किसी की धी का पट है।

होरे बिउलो रे छिट्टे शाड़णे,
ह्युन्खड़े री तीन गुठिये।
घासो-बाखरो खे जादू छाड़णे।1।

नायक: हरे बिहुल (पेड़ का नाम) की पतली टहनियां को पानी में साड़ना और फिर रस्सी बनाने वाले लड़की के औजार, जो क्रॉस की तरह का होता है, उसकी सहायता से रस्सी बनानी उसके बाद रस्सियों से गाय-बकरी को बाँधा जाना है।

बाटे शेल्लो री बे गुंदणी दाओं,
ओबरे दीगाय-बोल्दो।
हामेबान्नी पाया सोंक्ला गाओं।2।

नायिका: शैल बाट कर दाँव यानी पशुओं को बाँधने वाली बटनदार रस्सियाँ बना कर तुमने तो केवल पशु बांधे हैं हमने तो मुहब्बत में पूरा गाँव बाँध दिया है।

बातो लाइ लोई जादू रे जोरे,
धन्नो बाबा इंटरनेटो।

होए दुनिया दे मितोर-सोरे।1।

नायक: लगता है कि हम जादू के दम पर एक दूसरे से बातें कर रहे हैं। इस इन्टरनेट बाबा का धन्यवाद जिसने पूरी दुनियां में हमें मित्र और सगे सम्बन्धी दे दिए।

कोशो दूरो दे बे बेगेदेखियों,
छुईयों न तो का कोरियों।
उमड़ाई खे तो उंडेभेटिओं।2।

नायिका: कई दोष दूर होने पर भी दिखाई दे जाते हैं, एक दूसरे को छू नहीं सकते तो क्या करें एक दूजे की याद तो मिट जाती है।

नेटो गाशे कोरी लोणी मितरी,
जिओ री बे पेटो भोउती।
घोरे-बायरो री इंदी भीतरी।1।

नायक: नेट पर दोस्ती करनी है। इस दिल के कई पेट हैं और घर की और बाहर की सभी दोस्तियाँ इसी के अन्दर रखनी हैं।

जिऊ आपणा रो जानी आपणी,
मोयलो रे ठाठ देखयो।
गंगी फुकदी न छानी आपणी।2।

नायिका: दिल भी अपना और जान भी अपनी दूसरे के महल देख कर हमें अपनी झोपड़ नहीं फूकनी चाहिए।

म्हारे बागड़ी दी शुक्की ल्होस्णो,
नारणा तू पाणी देइ दे।
मोर जाणीभुक्खी-चिश्सी ल्होस्णो।1।

नायक/किसान: खेतों में बिना बारिश के लहसुन सूख जा रहे हैं, हे ईश्वर पानी बरसा दे, ये लहसुन भूख और प्यास से मर जायेंगे।

काटी जान्ग्लो रो बोणी शोड़की,
बाँव शुक्की खाले रो नाले।
मेरी पोणयारी आपी तोड़फी।2।

ईश्वर: जवाब आता है कि जंगल काट-काट कर तुमने सड़कें बना डाली हैं, गाँव की बावड़ियाँ और कुएँ, खाले-नाले सब सब सूख गए हैं। मेरा तो इंद्र धनुष खुद ही प्यासा है। तुम्हें कहाँ से पानी दूँ। गाँव में मान्यता है कि इन्द्रधनुष के माध्यम से पानी ऊपर पहुँचता है और फिर वर्षा होती है।

गेऊं काटणी राहेल्ला कोरदे,
या तो दिल आपणा दे दे।
या तो मेरा दिल बेल्ला कोर दे।1।

नायक: गेहूं काटने का हेल्ला यानी सामूहिक श्रम(सहायता) कर दे, या तो अपना दिल मुझे दे दे या फिर मेरा दिल आजाद कर दे यानी मुझे लारे लप्पे में मत रख।

झुट्ठी लाईदी न दिन्नो रे धोले,
तूतो दिल सोबी खे,
हामे रोइये नेबे एतड़े भोले।2।

नायिका: दिन के उजाले में झूठ नहीं बोलते, तू तो सभी को दिल बांटता फिरता है, अब हमें मालूम हो गया है। हम अब इतने भी भोले नहीं रह गए हैं।

आई बिषड़ी रो पींगों पिंगणी,
उंडी आय मेरी आन्गोय।
केल्ली बोयशियो रिंगो रिंगणी।1।

नायक: बिशु का त्यौहार है और पेड़ में झूले डालने का समय है, आ झूला झूलते हैं। लेकिन तू अन्य झूले में झूलेगी तो तुझे चक्कर आयेंगे, घूमने लगेगा सिर। इसलिए मेरी गोद में आ जा, एक साथ झूला झूलेंगे।

मेरे पिंगणी ने भोउते उच्चे,
सोब्बे जाणू तेरे जिओ री।
तूंए टोंडके बे भोउतेलुच्चे।2।

नायिका: मुझे बहुत ऊँचा झूला नहीं झूलना है, मैं तुम्हारे दिल की बात जानती हूँ। तुम लड़के लोग बहुत चालाक हो।

गुठ्ठे-गुठ्ठी री परेट कोरयो,
जोवानी री देस्सो गोंवाई।
हामे रात भोरी चेट कोरयो।1।

नायक: अँगूठे-उँगलियों की परेड कर के जिन्दगी के दिन फिजूल गवां दिए। हम लोगों ने दिन रात फोन पर चैट कर के।

सोबे बोयरी जमाना देखियो,
वीडियो दे ओमड़ाइ खे।
हामे देसो-राती उंडे भेटियो।2।

नायिका: यह सकल जमाना हमें बैरी नज़र आता है, जो हमें मिलने नहीं देता, बस वीडियो काल के माध्यम से ही हम लोग मिल सकते हैं और इसके लिए कोई समय की पाबन्दी भी नहीं है कभी भी मिल सकते हैं; लेकिन रूबरू नहीं।

बातो भोउती थी जिओ भीतरी।
धन देवा नेट महाराज,
सारी दुनिया दी लागी मितरी।1।

नायक: मन में बहुत सारी बातें थीं जिन्हें बताने के लिए कोई विश्वसनीय दोस्त नहीं मिल रहा था। लेकिन नेट देवता की वजह से सारी दुनियां में दोस्ती हो गई है और हम अनेक तरह की बातें और जानकारियां हासिल कर सकते हैं।

जेती तोलो री ए तेती गाशो री।
देखी भाली लाणी मितरी,
भोरी दुनिया ए बोदमाशो री।2।

नायिका: यह दुनिया बदमाश लोगों से भी भरी पड़ी है। इसलिए ध्यान से दोस्ती करना क्योंकि यहाँ लोग जितने ऊपर दिखाई देते हैं उतने ही धरती के नीचे भी होते हैं, जिनका पता नहीं चलता।

आगे बिशड़ी रो पाछे दा साजा,
भावटे रा लॉकडाउनो।
भाना देवठी रा मिलणो आजा।1।

नायक: पहले बिशु का त्यौहार था जिसमें हमने मिलकर झूला झूला और इसके बाद सक्रांति का पर्व है। मंदिर जाने का बहाने ले कर मिलने के लिए आ जाओ।

ढालो दुरके दी लोणी ने भोगो,
दुरा दुरा रोयी साजना,
बेगे कोरोना रा चाली रा रोगो।2।

नायिका: देवठी यानी मंदिर में नहीं जाना, दूर से ही नमस्कार करना, भोग प्रसाद भी नहीं लेना क्योंकि कोरोना बीमारी है। साजन इस लिए हम अब मिल नहीं सकते।

काटे धोलू रे पूले बानणे,
कोमरी दी बाओं पायो।
तुम्मे कोईंथो मूले बानणे।1।

नायिका: घास काटते हुए जैसे घास के पुले बाँधते हैं, पुले की कमर में बांह डाल कर, वैसे ही कैंथ के पेड़ के नीचे तुम्हें भी अपनी बाहों में बांधना चाहती हूँ।

लुक्की छुप्पी रो तो देसो रे भेटो,
देखी कोएँ वीडियो बाणों।
धारो-टिबड़ी दी राखणी झेटो।2।

नायक: छुप-छिपा कर तो बेशक हर रोज ही मिलते रहें लेकिन इस तरह बाँधने की बात मत कर और यदि तुम्हारा दिल कर रहा इस तरह आलिंगन को तो पहाड़ों और ऊँचे टीलों पर भी ध्यान रखो क्योंकि कोई हमारी वीडियो भी बना सकता है।

*****

उत्कृष्ट तमिल साहित्य और संस्कृति

डॉ. राजलक्ष्मी कृष्णन,
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर
अन्ना आदर्श महिला महाविद्यालय,
विरुगम्बाक्कम, चेन्नै – 600092

तमिल साहित्य का इतिहास लगभग ई.पू. तीसरी या चौथी शताब्दी से माना जाता है। तमिल संस्कृति को जानने के लिए हमें तमिल भाषा, तमिल लोगों के स्वभाव, उनके चरित्र और उनके चिंतन को समझना आवश्यक है। हर भाषा की अपनी परंपरा होती है। तमिल भाषा का विकास एवं संवर्धन भी उसी परंपरा का परिणाम है।

तमिल भाषा का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। यहाँ कोई संघर्ष की स्थिति नहीं रही है। राजनैतिक, सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टि से तमिल भाषा बाहरी संघर्ष से बाधित नहीं हुई। तीसरी और चौथी शताब्दी में बौद्ध और जैन संन्यासी उत्तर भारत से तमिलनाडु में पहुँचे थे और अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे। उन लोगों को राज्याश्रय भी प्राप्त था। उत्तर भारत की तरह तमिलनाडु में विदेशी आक्रमण बहुत ही कम हुए। यही कारण है कि यहाँ की संस्कृति, भाषा, लोकाचार, जातीय सभ्यता आदि सुरक्षित रही। तमिल भाषा अति प्राचीन भाषा है। यह भाषा लगभग 5000 वर्ष पुरानी है। सबसे प्राचीन लक्षण ग्रन्थ का नाम 'तोलकाप्पियम' है। इसके पहले भी अनेक लक्षण ग्रन्थ लिखे गये थे, परन्तु आजकल वे अनुपलब्ध हैं।

हमने चिदम्बरम, कन्याकुमारी और कांचीपुरम आदि अनेक स्थानों के दर्शन किये होंगे। तमिलनाडु के भरतनाट्यम से भी हम सब भली-भाँति परिचित हैं। ऐसा कहा जाता है कि तमिल साहित्य शिवजी का वरप्रसाद है, यही कारण है कि तमिल लोग शिवजी के परम भक्त हैं। महर्षि अगस्त्य शिवजी के परम भक्त थे। इन्होंने ही सबसे पहले तमिल साहित्य की प्रथम व्याकरण लिखी, जिसका नाम अगत्तियम है, जो अभी उपलब्ध नहीं है।

तमिल के प्रारंभिक काल को संघकालीन युग कहते हैं। प्राचीन तमिल साहित्य में हमें तमिलों की विश्व बन्धुत्व की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। उस समय के साहित्य का मुख्य लक्ष्य 'समस्त मानव जाति मेरे बन्धु हैं' था।

संघकालीन रचना 'पुरनानुरु' में यह उल्लेख है कि दूसरों के परिश्रम पर जीवित रहने वाले को घृणा की दृष्टि से देखना चाहिए जो अपने परिश्रम से जीवन-यापन करता है उसे

सम्मानपूर्वक देखना चाहिए। "यारुम ऊरे यावरुम केलिर" (समस्त भुवन मेरी जगह और समस्त मानव जाति मेरे भाई-बन्धु हैं) यही तमिलनाडु की संस्कृति है।

संघकालीन युग में आत्म-सम्मान, आत्म-गौरव को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया। यद्यपि उस समय के कवि राज्याश्रय प्राप्त कवि थे, फिर भी उन कवियों ने आत्म सम्मान और स्वाभिमान को बहुत महत्त्व दिया।

पुरुनानुरु की प्रसिद्ध उक्ति है :-

"माँगना नीचता है,
उससे नीचता है,
माँगने पर न कहना।
दान देना उत्तम कार्य है,
मगर उससे भी उत्तम है,
उसे नकार देना।"

संघकालीन कवियों ने सादा जीवन और उच्च विचार वाली भारतीय संस्कृति को अपनाया। तमिल एक शास्त्रीय भाषा है जैसे – संस्कृत। यह भाषा बहुत ही प्राचीन और समस्त विशेषताओं से युक्त है। किसी अन्य भाषा से इसका उद्गम नहीं है। इसका स्वतंत्र विकास रहा है। तमिल भाषा समस्त दक्षिण भारतीय संस्कृति और साहित्यिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए प्रत्येक तमिल भाषी को अपनी भाषा, संस्कृति, साहित्य और अपनी मातृभाषा पर गौरव होना चाहिए।

तमिल भाषा का प्रयोग तमिलनाडु, श्रीलंका, सिंगापुर, मलाया, मॉरिशस, मलेशिया, थाईलैंड, दक्षिण पूर्व के अनेक देशों में होता है। विदेशों में भी जहाँ तमिलभाषी जाकर बस गए हैं, वे भी दूसरों से तमिल भाषा में ही बोलते हैं। 'फिजी' में पहले तमिल भाषी मजदूरी के लिए वहाँ गए और वहीं पर बस गए। जाते वक्त वे अपने साथ तमिल की संस्कृति, भाषा और चिंतन भी लेते गए। आज इस देश में तमिलवासियों की संख्या लाखों में है।

तमिलनाडु में ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दी तक जैन और बौद्ध धर्म का अधिक प्रभाव रहा। इस समय दो महाकाव्य अधिक प्रसिद्ध हैं – 'शिलप्पदिकारम' और 'मणिमेखलै'। इन दोनों महाकाव्यों में उस युग के सामाजिक जीवन, धर्म, त्योहार, संस्कृति आदि का उल्लेख मिलता है।

पाँचवी शताब्दी के अंतिम चरण में तमिलनाडु में भक्ति का विकास तमिल के साहित्य में दिखाई देने लगा। वैष्णव भक्ति का प्रचार करने वाले 'आलवार' कहलाए। उनके चार हजार दिव्य प्रबंधन का संग्रह नालायिर 'दिव्य प्रबंधम्' के नाम से प्रसिद्ध है। आलवार का अर्थ है 'प्रभु के प्रेम सागर में डूबा हुआ।' इन कवियों ने जनभाषा का प्रयोग किया। इन कवियों में प्रसिद्ध नम्माल्वार, कुलशेखर आलवार और दक्षिण की मीरा आण्डाल काफी प्रसिद्ध हैं। इन

कवियों ने श्रीराम और श्रीकृष्ण को लेकर काव्य रचनाएं की हैं। आण्डाल तो तमिल साहित्य की मीरा है। उनके एक-एक पद में कृष्ण के अद्भुत कार्यों का वर्णन है।

तमिलनाडु में जहाँ एक ओर वैष्णव भक्ति का प्रचार हुआ तो दूसरी ओर शैव शक्ति का प्रचार हुआ। शिवभक्ति गाथाओं का संकलन 12 ग्रंथों में नम्बिआळवार नम्बि ने किया। शिवभक्ति के प्रमुख कविसंत तिरुज्ञानसंबंधर, अप्पर, सुंदरमूर्ति और माणिक्यवाचकर हैं। इन शिवभक्त कवियों को 'नायनमार' कहा जाता है। उनके काव्यों में त्याग, आस्था और श्रद्धा का स्वर है। शिव भगवान के सिवाय उन्होंने और किसी भी अन्य ईश्वर की आराधना नहीं की। अपनी भक्ति साधना से इन कवियों ने समाज के अंधविश्वास को दूर कर सामाजिक-सुधारों का सूत्रपात किया।

दैनिक पूजा-विधि के विषय में महाभारत से कुछ स्पष्ट ज्ञात नहीं होता है। रामायण की भाँति यहाँ भी शिव-मंदिरों का कोई विशेष उल्लेख नहीं है परन्तु शिव-मूर्तियों की चर्चा अवश्य की गई है। एक जगह कहा गया है कि ''शिव अपनी मूर्तियों की उपासना से प्रसन्न होते हैं और ये मूर्तियाँ मानवाकार और लिंगाकार दोनों होती हैं।'' इस आधार पर डॉ. यदुवंशी का विचार है कि दोनों प्रकार की मूर्तियाँ उस समय बनती थीं और उनकी उपासना होती थी।

यहाँ हमें एक विशेष बात का ध्यान रखना चाहिए कि भक्त चाहे वैष्णव आलवार के हों अथवा शैव नायनमार हों, इनमें जाति-पाति या ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं था। यहाँ पर भक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा शूद्र न होकर सभी ईश्वर के भक्त थे, इसी कारण इनका मुख्य लक्ष्य जनसेवा और लोक-कल्याण की ही भावना थी। यही तमिलनाडु की संस्कृति है।

तमिल की एक अन्य उपलब्धि कम्बन की रामायण भी है। कम्बन के बाद कई सौ वर्षों तक तमिल साहित्य टीकाओं और व्याख्यानों का काल रहा। तमिल का प्रथम वेदनायकम् पिल्लै का 'प्रताप मुदलियार चरितम' है जो सन् 1876 ई. में छपा। पिछले सौ वर्षों में हजारों उपन्यास छपे हैं, इसमें कल्कि, देवन, अन्नदुरै, शिवशंकरी अखिलन, एम. करुणानिधि, इन्दुमती आदि प्रसिद्ध लेखक और लेखिकाएं हैं। रेडियो, समाचार-पत्र, पत्र-पत्रिकाएं, कम्प्यूटर, आई-पैड आदि के द्वारा तमिल कहानी का विकास तीव्रगति से हो रहा है। नाटक, एकाकी, आलोचना आदि के अतिरिक्त निबंध, जीवनी आदि अन्य विधाओं पर भी तमिल में प्रचुर और प्रभावशाली साहित्य हैं।

तमिल साहित्य और चिंतन को उत्तर भारत में पहुँचने में तमिलनाडु के विद्वान डॉ. एन. महालिंगम, डॉ. शेषन, स्वर्गीय डॉ. सुन्दरम और अनेक लेखकों का कार्य प्रशंसनीय है। बाल

साहित्य की दृष्टि से सुब्रह्मण्य भारती ने भी अपना विशेष योगदान दिया। स्वर्गीय एन. सुन्दरम जी ने हिंदी से तमिल और तमिल से हिंदी में अनुवाद कर उत्तर और दक्षिण भारत को जोड़ने का प्रयत्न किया। लोगों में सौहार्द की भावना जागृत की। शैव संत तिरुज्ञान संबंध का तमिल से हिंदी रूपांतर 'तेवारम' प्रस्तुत कर लोगों के हृदय में शिवभक्ति का प्रचार किया। 'तेवराम' में शिवभक्तों ने जिन-जिन मंदिरों में जो पदिकम् जिस-जिस राग के साथ गाए, उन-उन मंदिरों में ये पद राग के साथ उल्लिखित हैं। तमिलनाडु में शैव-मंदिरों की संख्या, उनका वृहद् आकार और पूजन पद्धति आज भी इस बात का साक्षी है।

महाकवि सुब्रह्मण्य भारती की भी सभी रचनाएं राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। उनकी रचनाओं में वर्तमान युग की सांसों का स्पंदन है, जनमानस की आशा, आकांक्षाओं की व्याप्ति है, इतना ही नहीं भविष्य के निर्माण के प्रति सुन्दर और सजीव परिकल्पना है। भारतीय संस्कृति आस्था प्रधान है। इसमें त्याग, सेवा, श्रद्धा आदि को विशेष स्थान दिया गया है। इन्हीं गुणों के कारण हमारा देश, अन्य देशों में पूजित है। महाकवि भारती ने साहित्य की सभी विधाओं पर प्रकाश डाला है। वे प्रथम कवि थे जिन्होंने देश-भक्ति, राजनीति और तमिल साहित्य को आसान बनाया, जिसे साधारण से साधारण लोग भी समझ सकें। उन्हें आधुनिक तमिल साहित्य का जनक भी कहा जाता है। उन्होंने कविता के माध्यम से लोगों के मन में आजादी की भावना जगायी। 'पांचाली शपथम' द्वारा कवि भारती ने महाभारत की कथा को अत्यन्त सरलता से जनमानस तक पहुँचाया। 'भगवद्गीता' उनकी अनुदित कृति है जिसकी प्रशंसा करते हुए महात्मा गाँधी जी ने कहा कि, ''भारतवासी इस महान सपूत को आदर दें। भारत को स्वतंत्र देखना उनका एक मात्र लक्ष्य था, इसकी भविष्यवाणी उन्होंने बहुत पहले ही कर दी थी।

आडुवोमे, पल्लु पाडुवोमे

आनन्द सुदन्दिरं अडैन्दु विट्टोमेन्डु (आडुवोमे)

न केवल साहित्य और संस्कृति में वरन ललित कलाओं, संगीत, नृत्य, सभी विषयों में तमिलनाडु सबसे बढ़चढ़कर है जिसमें मदुरै तो लोकाचार और संस्कृति में अति उत्तम है।

कांचीपुरम की रेशमी गाड़ियाँ, तंजावूर की वीणा, कोयम्बतूर के सूती कपड़े, संगीत के अनेक वाद्ययंत्र, मूर्तिकला, चित्रकला इत्यादि अनेक प्राचीन कलाओं में कीर्तिमान स्थापित कर चुका है। इसमें जरा भी संदेह नहीं। तमिल प्रदेश की गरिमा का क्या कहना देश-विदेश के पर्यटकों, यात्रियों के लिए तमिलनाडु आज भी आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। ''देवभूमि का ऐसा निर्माण कहीं और नहीं मिलता, भक्ति का ऐसा कमल, कहीं और नहीं खिलता''।

*****

बहुभाषी प्रदेश पुडुचेरी में हिंदी: एक अवलोकन

डॉ. धनंजय सिंह
सहायक प्रोफेसर,
डॉ. एसआरके गवर्नमेंट आर्ट्स कॉलेज,
यानम, पुडुचेरी- 533464

प्रस्तुत लेख पिछले छः वर्षों से पुडुचेरी में हिंदी भाषा अध्यापन के निमित्त रहवासी अनुभव पर आधारित है। इस लेख को लिखने की मुख्य वजह यह है कि दक्षिण भारत में हिंदी की दशा एवं दिशा को लेकर साहित्य तथा संस्कृति पर हिंदी लेखन सामान्यतः पर्याप्त रूप से होता आया है लेकिन पुडुचेरी के सन्दर्भ में हिंदी भाषा में इंटरनेट पर या अन्य जगहों पर जितनी प्रकाशित सामग्री है, वह काफ़ी कम है और जितना कुछ मिलता है वह गूगल की तकनीकी हिंदी अनुवाद है और काफी बेतरतीब किस्म का है और उसमें भी बहुत-सी भ्रामक सूचनाएँ हैं, विश्लेषण-मूल्यांकन की बातें तो बहुत दूर की बात है। बेशक पुडुचेरी की सामाजिक-सांस्कृतिक पहलू पर हिंदी में नाममात्र का लेखन है।

जैसाकि सर्वविदित है कि पुडुचेरी (पुडुचेरी) एक केंद्रशासित राज्य है। लेकिन इस राज्य का अनोखापन इस सच्चाई में है कि पुडुचेरी दक्षिण भारत ही नहीं बल्कि पूरे भारत का इकलौता ऐसा राज्य (केंद्र शासित) है, जहाँ अंग्रेजी, फ्रेंच, हिंदी, तमिल, तेलुगु के साथ मलयालम सहित छह कार्यालयी (ऑफिसियल) भाषाएँ हैं। जिसमें से अंतिम तीन भारतीय भाषाएँ न केवल यहाँ बोली जाती है अपितु राष्ट्रभाषा के साथ-साथ राजभाषा के रूप में भी स्थापित हैं। ऐसा दरअसल इसलिए है क्योंकि पांडिचेरी के चार जनपद हैं, जो चार अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों में अवस्थित हैं। मुख्य पुडुचेरी के अलावा दूसरा जनपद कराईकल है, जो पुडुचेरी से डेढ़ सौ किलोमीटर दूर तमिलनाडु क्षेत्र में है, तीसरा जनपद माहे है, जो केरल प्रदेश का समुद्रतटीय इलाका है, जहाँ मलयालम बोली जाती है और चौथा जनपद यानम है, जो आन्ध्र प्रदेश में तेलुगु भाषा क्षेत्र है। भारत के भीतर भारत का यह राज्य भाषायी एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बेहद अनूठा एवं अलबेला राज्य है, क्योंकि एक ही राज्य का व्यक्ति एक जनपद से दूसरे जनपद, पुडुचेरी और कराईकल के आपसी आवाजाही को छोड़कर, जाते ही भाषायी दृष्टिकोण से अजनबी हो जाता है। खैर, मैं यानम में एक राजकीय महाविद्यालय में हिंदी भाषा का शिक्षक हूँ। यहाँ आने से पूर्व पॉण्डिचेरी के बारे में मेरी जानकारी लगभग शून्य थी और जो कुछ भी जानकारी थी, बस यही थी कि पुडुचेरी भारत का

एक केंद्रशासित प्रदेश है और बहुत सुंदर पर्यटक स्थल है। इससे उत्तर भारतीय समाज का दक्षिण भारत के बारे में होने वाले सामान्य ज्ञान का पता चलता है। यानम में हिंदी की स्थिति जानने से पूर्व आप मुख्य पुडुचेरी, कराईकल एवं माहे में हिंदी से जुड़े संस्थान एवं समाज के बारे में ज़रा जान लीजिए कि चूँकि पुडुचेरी विश्वविद्यालय पुडुचेरी में ही अवस्थित है। इसलिए वहाँ स्नातक, स्नातकोत्तर एवं पीएचडी स्तर पर हिंदी भाषा की हिंदी में शिक्षा प्रदान की जाती है। जिसके लिए अधिकांश विद्यार्थी माहे या केरल के

> सीबीसीएस के तहत पुडुचेरी विश्वविद्यालय में स्नातक स्तर के विद्यार्थियों को प्रारम्भिक चार सेमेस्टरों में सामान्य हिंदी का एक-एक पेपर पढ़ना है। प्रत्येक सेमेस्टर का हिंदी पाठ्यक्रम गैर हिंदी क्षेत्र को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। इसलिए वहाँ स्नातक, स्नातकोत्तर एवं पीएचडी स्तर पर हिंदी भाषा की हिंदी में शिक्षा प्रदान की जाती है।

अन्य इलाकों से आते हैं जबकि शोध करने वाले विद्यार्थी अधिकतर उत्तर भारत से ही होते हैं। कराईकल में हिंदी अध्ययन करने वालों की संख्या बेहद कम है लेकिन माहे में विद्यार्थी स्नातक के साथ स्नातकोत्तर तक की शिक्षा प्राप्त करते हैं।

यानम में हिंदी की स्थिति की बात करने से पूर्व हम इसकी भौगोलिक स्थिति को देखते हैं। वस्तुतः यानम आंध्र प्रदेश के समुद्रतटीय एवं गोदावरी नदी की गोद में बसा हुआ एक ऐसा जनपद है, जहाँ की जनसंख्या अभी तकरीबन छप्पन हजार के आस-पास होगी। लोगों की आजीविका का मुख्य साधन धान और नारियल की खेती, मछली पालन एवं समुद्र से मछली पकड़ने और छोटे-मोटे व्यवसाय हैं। जो बहुत सीमित साधन हैं। बावजूद इसके, यहाँ के लोगों का जीवन-स्तर भारत के कस्बाई इलाकों से किसी भी मामले में कम नहीं कहा जा सकता है। यानम शब्द दरअसल ईनाम शब्द का उच्चारण रूप है। क्योंकि यानम फ्रांसीसियों को हैदराबाद के निज़ाम से ईनाम के रूप में मिला था।

जहाँ तक, यहाँ हिंदी की स्थिति की बात है तो इस संदर्भ में पहले शैक्षणिक संस्थानों की बात करते हैं। दरअसल सीबीसीएस के तहत पुडुचेरी विश्वविद्यालय में स्नातक स्तर के विद्यार्थियों को प्रारम्भिक चार सेमेस्टरों में सामान्य हिंदी का एक-एक पेपर पढ़ना है। प्रत्येक सेमेस्टर का हिंदी पाठ्यक्रम गैर हिंदी क्षेत्र को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। यानम में एक ही डिग्री कॉलेज है। जिसमें हर साल हिंदी भाषा चुनने वाले विद्यार्थियों की संख्या अधिकतम चार से छः तक होती है। हिंदी विषय का चयन करने वाले विद्यार्थियों के बारे में यह बिलकुल नहीं समझा जाना चाहिए कि मात्र वही हिंदी लिखते, पढ़ते या बोलते हैं। दरअसल

वास्तविकता यह है कि हिंदी, फॉउंडेशन हिंदी पढ़ने वालों की अपेक्षाकृत बहुत से विद्यार्थी हिंदी बोलते ही नहीं, अपितु लिख-पढ़ते भी हैं। यह स्थिति महाविद्यालय की है।

जहाँ तक विद्यालयों में हिंदी भाषा के पठन-पाठन का प्रश्न है तो यहाँ सरकारी विद्यालयों में त्रिभाषा सूत्र के अंतर्गत पहली कक्षा से लेकर बारहवीं कक्षा तक तीसरी भाषा के रूप में निश्चित रूप से हिंदी का अध्ययन कराया जाता है लेकिन पब्लिक स्कूलों में हिंदी का पठन-पाठन आवश्यक नहीं है। यहाँ चूँकि सरकारी विद्यालयों की संख्या अपेक्षाकृत ज्यादा है। अतः हिंदी भाषा पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी पर्याप्त है। अंग्रेजी भाषा के सहायक प्रोफेसर के एम के चक्रवर्ती यानम में हिंदी पढने वाले विद्यार्थियों के बारे में बताते हैं- “यहाँ के जवाहर नवोदय विद्यालय में राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षक चयनित होकर आते हैं। अतः वहाँ का वातावरण लगभग सम्पूर्ण भारतीय होता है। इसलिए वहाँ हिंदी संपर्क भाषा के रूप में व्यवहृत होती है। लेकिन बारहवीं के बाद वहाँ के अधिकांश विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए यानम से बाहर चले जाते हैं। इसलिए यानम के अकादमिक संस्थानों में हिंदी की दशा में कमी आ जाती है” यानम में इस औपचारिक हिंदी भाषा शिक्षण के अलावा जो लोग आजीविका के लिए प्रवास से लौटकर आते हैं, व्यवहारतः हिंदी भाषा का कहीं अधिक प्रयोग करते हैं। वैसे भी यहाँ आम लोगों के मध्य हिंदी भाषा अपने व्यवहारिक रूप में प्रतिष्ठा की पात्र है।

यानम में हिंदी का जीवंत लोकवृत्त तब दिखाई देता है जब यहाँ भोजपुरी सिनेमा की शूटिंग होती है। यानम के मूलनिवासी सदानल बाबू ने भोजपुरी भाषा के कई फिल्मों में बतौर सह अभिनेता के रूप में काम किया है। शूटिंग के दौरान भाषायी माहौल के बारे में वे बताते हैं- "यानम में बहुत सारी भोजपुरी फिल्मों की शूटिंग हुई है। अभी कोरोना की वजह दो साल से शूटिंग नहीं हो रही है।... मैंने दिनेशलाल निरहुआ, पवन सिंह, खेसारीलाल यादव, रितेश पांडेय इत्यादि कई सारे भोजपुरी हीरो के साथ भोजपुरी फिल्मों में काम किया है। फिल्म में मेरा डायलॉग हिंदी भाषा में होता था। मैं हिंदी (देवनागरी) लिपि में ही लिखा हुआ डॉयलोग लेता था।... भोजपुरी के कलाकार यहाँ हिंदी भाषा में ही हम सभी से बोलते थे, भोजपुरी में नहीं। लेकिन भोजपुरी गानों के वक्त यहाँ के लड़कों को भोजपुरी का ही एक्सेंट देना पड़ता था। भोजपुरी फिल्मों के प्रोड्यूसर तो हमारे तेलुगु भाषी हैं।" सिनेमा निर्माण की प्रक्रिया में हिंदी भाषा ही संपर्क व्यवहार की भाषा थी। इस तरह हिंदी के विस्तार में जिन्हें हिंदी की बहन बोलियाँ कहा जाता है, उनमें सिनेमा निर्मिति की भी भूमिका है।

दक्षिण भारत में हिंदी की दशा और दिशा के संदर्भ में अधिकांश विद्वान् बहुत शोचनीय दशा के रूप में देखते हैं। मुझे लगता है कि उक्त सन्दर्भ में उनकी चिंता जायज नहीं है क्योंकि दक्षिण भारत में हिंदी को बहुत ईमानदारी से त्रिभाषा सूत्र के माध्यम से लागू किया गया है। केरल राज्य ने काफी शिद्दत से हिंदी के साथ अपना रिश्ता अपनाया है। लेकिन प्रश्न है कि त्रिभाषा सूत्र के रूप में उत्तर भारत के कितने राज्यों ने दक्षिण भारतीय भाषाओं को लागू किया है? संभवतः किसी ने भी ऐसा नहीं किया है। वस्तुतः हिंदी की समृद्धि तभी संभव हो सकेगी, जब भारत की बाकी भाषाएँ भी समृद्ध होंगी। जरुरत होगी कि उनके सभी के बीच आपसी संवादहीनता की स्थिति न हो। दरअसल संवादहीनता की दशा में भाषाएँ विस्तार नहीं करती हैं, बल्कि सिकुड़ती जाती हैं। इस संदर्भ में प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह का कहना है- *"अब हिंदी-अंग्रेजी के शब्दकोश देखें। अंग्रेजी की जो पहली डिक्शनरी है, 1400 ईस्वी में मैथ्यू वासिक ने संपादित किया था. उस डिक्शनरी में शब्दों की संख्या है दस हजार। आज वेबस्टर की जो अंग्रेजी डिक्शनरी है, उसकी शब्द संख्या है साढ़े सात लाख। तो सात लाख चालीस हजार शब्द कहां से आए अंग्रेजी में? अंग्रेजी में शब्द दस हजार हैं और आज साढ़े सात लाख पहुंच गए हैं, यानी कि सात लाख चालीस हजार शब्द बाहर से आए। ... अब हिंदी को लीजिए। हिंदी की जो पहली डिक्शनरी है उसकी शब्द संख्या थी बीस हजार। अंग्रेजी का सीधा दो गुना। ये आई थी 1800 ईस्वी के कुछ बाद। पहली डिक्शनरी मानी जाती है पादरी आदम की और दूसरी श्रीधर की। ... आज हिंदी डिक्शनरी में शब्दों की संख्या क्या है? डेढ़ लाख से दो लाख अधिकतम। शब्दों की संख्या नहीं बढ़ रही है हिंदी में, इसके कारण हैं। हम लोग उतने उदार नहीं हैं। हमारी भाषा में वही छुआछूत की बीमारी है जो हमारे समाज में है"*। ठीक यही बात दक्षिण भारत में हिंदी और हिंदी क्षेत्र में दक्षिण भारतीय भाषाओं के व्यवहार को लेकर लागू होती है। यह तर्क उन लोगों पर विशेष रूप से लागू होता है जो आजीविका की तलाश में दक्षिण भारत में आगमन करते हैं। यदि उन्होंने अपने स्कूलों में किसी एक दक्षिण भारतीय भाषा को पढ़ा होता तो संभवतः उन्हें उक्त प्रवास में भाषिक कठिनाई झेलनी नहीं पड़ती। किसी भी भाषा का एक जगह से दूसरी जगह व्यवहृत होने के लिए मात्र प्रवसन की भूमिका नहीं होती है बल्कि सूचना प्रौद्योगिकी के युग में बहुत सी ऐसी चीजें होती हैं, जो अपने स्वभाव से परिचित कराती हैं। भूमंडलीकरण के दौर में दक्षिण भारत से खाद्य व्यंजन एवं सिनेमा जिस रफ़्तार से उत्तर भारत के लोगों में लोकप्रिय हुए, उस रफ़्तार से शायद ही उत्तर भारत की, किसी जमाने में बॉलीवुड गीतों को छोड़कर, कोई चीज लोकप्रिय हुई होगी। लेकिन संस्कृतियों के

आवाजाही की इस प्रक्रिया में भाषाएँ भी समृद्ध हो रही हैं। हिंदी की स्थिति इस प्रक्रिया से अलहदा नहीं है अर्थात वह भी समृद्ध हो रही है। तेलुगु, तमिल या मलयालम फिल्में जिस जूनून के साथ हिंदी में डब होकर आ रही हैं, उससे दक्षिण उत्तर के काफी नज़दीक हो गया है या कहें कि उत्तर भी दक्षिण को सम्मान देने लगा है। इस स्थिति में द्रविड़ भाषाओं के कुछ शब्द, चाहे ये शब्द किसी भी क्षेत्र से आये हों, लोकप्रिय हो गए हैं। किसी भी भाषा के शब्द के लोकप्रिय होने के मायने मात्र भाषा तक सीमित नहीं होते बल्कि भूगोल के साथ समाज एवं

संस्कृति भी उसके दायरे में आते हैं।

सोशल मीडिया ने हिंदी को पुडुचेरी के आम लोगों में अपना बना दिया है। कॉलेज या इसके बाहर अक्सर हर कोई अपने मोबाइल पर रील्स, शॉर्ट्स या अन्य माध्यमों पर हिंदी के गीत सुनते हुए मिल जाता है। हालांकि भाषा के मामले में सोशल मीडिया की भूमिका इकहरी यानि एकांगी नहीं है, बहुआयामी है। गैर-हिंदी भाषा के शब्द भी हिंदी भाषियों तक उतनी ही आसानी से पहुँच बना रहे हैं या लोकप्रिय हो रहे हैं, जितनी आसानी से हिंदी भाषा अन्यों के बीच लोकप्रिय हो रही है। इसकी पृष्ठभूमि में मात्र एक भाषा का वर्चस्व नहीं है बल्कि लोगों के भावों की सृजनात्मकता है जो उनकी मातृ भाषा में अभिव्यक्ति पाकर एक भाषायी क्षेत्र की सीमा को लाँघ रहा है।

जहाँ तक पुडुचेरी में हिंदी भाषा में रचनात्मक साहित्य का प्रश्न है तो इसमें कोई संदेह नहीं कि इसका अभाव है। इस क्रम में लगभग 25 से अधिक वर्षों से दक्षिण भारत के इस केंद्रशासित राज्य पुडुचेरी में अध्ययन-

अध्यापन से डॉ. राजेश कुमार का भी मानना है कि "पुडुचेरी में हिंदी भाषा में रचित रचनात्मक साहित्य की कोई परम्परा अभी तक विकसित नहीं हो पाई है लेकिन अनुवाद साहित्य धीरे-धीरे विस्तार पा रहा है।" इसी संदर्भ में एक सुखद पहलू उभरकर सामने आया है कि देश में जब से हिन्दी का प्रयोजनमूलक स्वरूप चलन में आया है तब से भाषायी तौर पर हिन्दी का विकास बहुत अधिक दिखाई देता है। प्रयोजनमूलक हिन्दी से तात्पर्य हिन्दी के विज्ञान, तकनीकी, विधि, संचार एवं अन्यान्य गतिविधियों में प्रयुक्त होने वाली हिन्दी से है। हिन्दी केवल साहित्य की भाषा न रहे बल्कि जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रभावी रूप से प्रयुक्त हो, ऐसा उद्देश्य रखकर ही हिन्दी के इस स्वरुप का प्रादुर्भाव हुआ। प्रयोजनमूलक हिन्दी आज हमारे देश में एक वृहत पैमाने पर प्रयुक्त हो रही है। केन्द्र और

राज्य सरकारों के बीच संवादों का सेतु बनाने में इसकी महती भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। आज इसने एक ओर कम्प्यूटर, टेलेक्स, तार, इलेक्ट्रॉनिक, टेलीप्रिंटर, दूरदर्शन, रेडियो, अखबार, डाक, फिल्म और विज्ञापन आदि जनसंचार के माध्यमों को अपनी ओर आकृष्ट किया है, तो वहीं दूसरी ओर शेयर बाजार, रेल, हवाई जहाज, बीमा उद्योग, बैंक आदि औद्योगिक उपक्रमों, रक्षा, सेना, इन्जीनियरिंग आदि प्रौद्योगिकी संस्थानों, तकनीकी और वैज्ञानिक क्षेत्रों, आयुर्विज्ञान, कृषि, चिकित्सा, शिक्षा, प्रबंधन के क्षेत्र में अपना स्थान बनाया है। साथ-साथ विभिन्न संस्थाओं में हिन्दी माध्यम से प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, सरकारी- अर्द्धसरकारी कार्यालयों में मुहरों, नामपट्टिकाओं, स्टेशनरी के साथ-साथ विभिन्न तरह के पत्रों जैसे कार्यालय-ज्ञापन, परिपत्र, आदेश, राजपत्र, अधिसूचना, अनुस्मारक, प्रेस–विज्ञप्ति, निविदा, आदि में प्रयुक्त होकर अपने महत्व को स्वतः सिद्ध कर दिया है। सार रूप में कहें तो अब देश के प्रत्येक राज्य चाहे वे हिन्दीभाषी हों अथवा हिन्दीतर भाषी हों, में विशुद्ध रुप से न सही परन्तु प्रयोजनमूलक हिन्दी का प्रयोग हर जगह दिखाई देता है।

निष्कर्ष:

समग्रतः कह सकते हैं कि गैर-हिंदी प्रदेशों में जिस प्रकार से हिंदी ने अपना विस्तार किया है उसी प्रकार पुडुचेरी में भी हिंदी की दशा सही दिशा में उन्मुख होगी।

*****

धर्म का व्यावहारिक व वैज्ञानिक स्वरूप

डॉ. साधना गुप्ता "वर्ल्ड
रिकॉर्ड होल्डर"
"सहायक आचार्य"

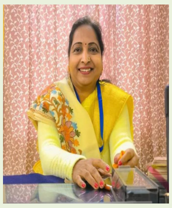

भारतीय संस्कृति की आत्मा एवं प्राण तत्व है - "धर्म एवं दर्शन", जिसका ध्येय है आत्मानुभव और आध्यात्मिक जीवन की यथार्थ पद्धति का अन्वेषण अर्थात् देह, मन और प्राण से भी महान आत्म तत्व को मानना और सामान्य मानसिक, प्राणिक प्रकृति से उच्चतर चेतना के लिए अभीप्सा करना। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में 'धर्म' का स्थान किसी संप्रदाय अथवा मत विशेष के संकुचित भाव में नहीं रहा वरन् वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवनचर्या की आधार संहिता के रूप में रहा है। धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रिय निग्रह, सुबुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध, धर्म के ये दस लक्षण मानव जीवन और स्वभाव के श्रेष्ठ आदर्श ही कहे जाएंगे।

भारतीय धर्म :- भारतीय धर्म का बीज मंत्र है - "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् परम् सत्य तो एक ही है, ज्ञानीजन उसका विवेचन विविध प्रकार से करते हैं, जिसे हम निम्न बिंदुओं से समझ सकते हैं :- 1. वेद का एकं सद् और उपनिषद् का एकमेवऽद्वितीय सूत्रानुसार ब्रह्मांड में जो कुछ भी है, परम् सत्ता इस सब कुछ से परे भी है।

2. उस अनन्त परम् सत्ता के पास मनुज नानाविध मार्गो अर्थात् अनेक प्रकार की साधना पद्धतियों से पहुँच सायुज्य प्राप्त कर सकता है।

3. व्यक्ति चाहे तो उसे विश्व चेतना में से होकर, समस्त अंतर और बाह्य प्रकृति को पार कर प्राप्त कर सकता है और चाहे तो अपनी ही सत्ता के (व्यष्टि रूप में) आध्यात्मिक भाग के अंदर उससे साक्षात्कार कर सकता है।

4. प्रत्येक जीव के अंतर में विद्यमान अंतरात्मा उस परम् सत्ता के साथ एकीभूत एवं घनिष्ठतः संबद्ध है। चेतना का स्रोत आत्मा ही है। अतः वही मुख्य है, शरीर नहीं। श्री अरविंद ने इसे ही "चैत्य पुरुष" संज्ञा से अभिहित किया है।

5. आस्तिक, नास्तिक, निराकार, साकार, द्वेत, अद्वेत, विशिष्टाद्वैतवाद इत्यादि उसी एक की प्राप्ति के मार्ग हैं। इस अनंत विविधता को विवेकानंद ने "एक उत्कृष्ट धार्मिक संस्कृति का लक्षण कहा है।"

6. जीवन एक ऐसा कदम है जिसे व्यक्ति अपने कर्मों के द्वारा आगे या पीछे उठा सकता है। पुनर्जन्म के इस सिद्धांत को अपनाते हुए मोक्ष का अभिप्राय जीव का परम् सत्ता में पूर्ण विलय ना मानकर, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य में विभाजित किया गया है जिसे श्रीअरविंद ने "आध्यात्मिक अस्तित्व" की संज्ञा दी है।

धर्म और जीवनचर्या का आधार - त्याग व तप :- यज्ञ को वैदिक वाङ्गमय में क्रतु अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान कहा गया है, जिसका अभिप्राय है - "दिव्य संकल्प और मन, वचन, कर्म द्वारा पवित्र शुभ आचरण"। भारतीय संस्कृति में जीवनचर्या के क्रियाकलाप को इसी यज्ञ के भाव से करने का विधान है। प्रत्येक कर्म को यज्ञ मानकर करने से मनुष्य का जीवन दिव्य बन जाता है। होम को यज्ञ कहना मात्र उसका स्थूल रूप है। यही कारण है कि भारतीय जीवन पद्धति त्याग व तप को सदैव महत्व देती आई है - "ईशा वास्यमिद ॐ सर्वम् यत्किञ्च जगत्याम् जगत्, तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध: कस्यविद् धनम्" अर्थात् संपूर्ण ब्रह्मांड में जो कुछ भी जड़ चेतन रूप में दिखलाई देता है वह बहुत कुछ ईश्वर से व्याप्त है। उसे त्याग पूर्वक भोगते रहो, इसमें आसक्त मत हो। ये भोग पदार्थ किसके हुए हैं? यहाँ बहुत सरल शब्दों में स्वीकार किया गया है कि संपूर्ण जगत के जो भी भोग पदार्थ हैं, वह सभी उसी सकारात्मक ऊर्जा से व्याप्त हैं और वे सभी हमारे कल्याण के लिए बने हैं। उनका उपयोग आवश्यकता के अनुसार ही किया जाना चाहिए, ना कि इंद्रियों के वशीभूत या आसक्त होकर। क्योंकि इससे दो लाभ हैं प्रथम स्वहिताय अर्थात् अधिक मात्रा में भोग करने पर हम रोगों को आमंत्रित करेंगे। अतः ऐसा करने से रोग से बचेंगे, स्वस्थ रहेंगे। दूसरा है परहिताय अर्थात् त्यागपूर्वक काम में लेने पर वे पदार्थ जरूरतमंदों के लिए शेष रहेंगे। अतः भोग का निषेध नहीं, आदेश है - "त्याग पूर्वक भोग करो"। भगवत् गीता में इसे ही यज्ञ कर्म कहा गया है :- "यज्ञ व लोक कल्याण का विधान करने के बाद यज्ञ शेष यानि प्रसाद में संतुष्ट रहने वाला मनुष्य भोगों में आसक्त नहीं होता, कर्म बंधन यानि सुख-दुख में नहीं पड़ता और मनुष्य जन्म को सार्थक करता है।"

इस प्रकार भारतीय जीवन पद्धति में त्याग व तप को सदैव महत्व दिया गया है। ऋषि परंपरा ने त्याग, तप तथा सत्यान्वेषण का जो आदर्श प्रस्तुत किया था उसे महापुरुषों ने आगे बढ़ाया। दधीचि, हरिश्चंद्र, राम, भरत, भीष्म, कर्ण, भर्तृहरि, बुद्ध, महावीर, रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमण, गांधीजी, श्री अरविंद इत्यादि की एक लंबी श्रृंखला है, जिन्होंने अपने सांसारिक सुख-विहार को त्यागकर, स्व जीवन को तपोवन बना लोक कल्याण का पथ प्रशस्त किया। विस्तार भय से हम यहाँ उनके ब्रह्मलीन अवस्था की उपलब्धि की चर्चा न कर केवल इतना ध्यानाकृष्ट करवाना चाहेंगे कि उन्होंने अपनी अंतर्दृष्टि तथा

अंतर्बोध से ऐसे सूक्ष्म तत्वों की गवेषणा की है जिसका आविष्कार वर्तमान समय के भौतिकवादी वैज्ञानिक अपने आधुनिक यंत्रों द्वारा आज तक भी नहीं कर पाए हैं। उदाहरण के रूप में विश्व के प्राणियों की चौरासी लाख योनियाँ, मानव देह में नाड़ियों की बहत्तर हजार संख्या, इड़ा, पिंगला के मध्य सुषुम्ना नाड़ी की स्थिति, षट्चक्र, कुंडलिनी शक्ति इत्यादि की शोध भारतीय अन्तर्योगी ही कर सके हैं। जीवनचर्या की विविध क्रियाओं को आध्यात्मिक भाव और वैज्ञानिक ढंग से संपादित करने के भारतीय धर्म के विधान को हम यहाँ छांदोग्य उपनिषद् जो सामवेद की तलवकार शाखा के अंतर्गत छान्दोग्य ब्राह्मण का भाग है, के उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

वैश्वानर विद्या :- उदरस्थ पाचन शक्ति को आयुर्वेद में जठराग्नि की संज्ञा दी गई है और वैदिक वाङ्गमय में वैश्वानर कहा गया है। छांदोग्य उपनिषद् में हृदयस्थ अंतरात्मा को "वैश्वानर आत्मा" कह कर उसका संबंध खाए हुए अन्न अर्थात् आहार से बताया गया है, - भोजन के रूप में जो अन्न सामने आए, उसका वैश्वानर आत्मा के प्रति हवन करना चाहिये, क्योंकि पंचप्राण और शरीर की विभिन्न कर्मेंद्रियों का अटूट संबंध है। पहले ग्रास की आहुति "प्राणाय स्वाहा" मन्त्रोच्चार करके दें। इससे प्राण तृप्त होता है और प्राण के तृप्त होने से नेत्रेन्द्रिय तृप्त (संतुष्ट) होती है। दूसरे ग्रास की आहुति "व्यानाय स्वाहा" मन्त्रोच्चार करके दें। इससे व्यान तृप्त होता है जिससे श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त (प्रबल) होती है। तीसरे ग्रास की आहुति "अपानाय स्वाहा" मन्त्रोच्चार करके दें। इससे अपान तृप्त होता है, जिससे वागिन्द्रिय तृप्त (पुष्ट) होती है। चौथे ग्रास की आहुति "समानाय स्वाहा" मन्त्रोच्चार करके देने से समान के तृप्त होने से मन तृप्त (सुदृढ़) होता है। पांचवें ग्रास की आहुति "उदानाय स्वाहा" मन्त्रोच्चार कर देवें। उदान की तृप्ति से त्वचा तृप्त (तेजस्वी) होती है। इस भावना को अधिक व्यापक बनाते हुए ऋषि यहाँ तक कहते हैं कि नेत्रेन्द्रिय के तृप्त होने से सूर्य तृप्त होता है। जिससे द्यो लोक (आकाश) तृप्त होता है। द्यो लोक के तृप्त होने से स्वयं भोग लगाने वाला साधक ब्रह्म तेज से तृप्त हो जाता है। इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के तृप्त होने से चंद्रमा तृप्त होता है, जिससे दिशाएं तृप्त होती हैं। वाक् के तृप्त होने से अग्नि तृप्त होती है जिससे पृथ्वी तृप्त होती है। मन के तृप्त होने से पर्जन्य (मेघ) तृप्त होते हैं जिससे विद्युत तृप्त होती है। पाँचवी आहुति के अशन द्वारा त्वचा के तृप्त होने से वायु तृप्त होती है, जिससे आकाश तृप्त होता है। अतः कहना होगा, - ऐसी पवित्र एवं व्यापक भावना से भोजन करना केवल क्षुधा तृप्ति के लिए नहीं, वरन् समस्त विश्व में तृप्ति और पुष्टि के भावों को जागृत करने के महत्तम उद्देश्य को साथ लेकर चलता है और यही कारण है कि ऐसी अशन क्रिया (भोजन ग्रहण करना) विश्वानर आत्मा के प्रति किया हुआ यज्ञ बन जाती है। उपनिषद् में

विवेचित इस अशन क्रिया के विवेचन को "वैश्वानर विद्या" कहा जाता है। इसे अच्छी प्रकार जानकर यज्ञ कर्म किया जाए तो सभी कर्मेन्द्रियों में ब्रह्म तेज का उदय होना अनिवार्य है। इसी को वाणी देते हुए श्री अरविंद ने कहा था - "भोजन ऐसी भावना से करना चाहिए मानों अंतरस्थ दिव्य उपस्थिति को अर्पित कर रहे हो"

यज्ञ : प्राण - सूर्य - अन्न रूपी जीवन की आराधना :- उपनिषद् के प्रथम अध्याय के खंड दस व ग्यारह में वर्णित उषस्ति ऋषि की कथा एक साथ ही भारतीय धर्म के सभी लक्षणों को व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत कर देती है। एक समय ओलों की भीषण वर्षा होने पर कुरु देश की खेती नष्ट हो गई, अकाल पड़ गया। तब चक्रमुनि पुत्र उषस्ति अन्न के अभाव में सपत्नी महावतों (हाथिवानों) के गांव में जाते हैं।

भूख से मरणासन्न ऋषि एक महावत को उड़द के उबले हुए दाने खाते देख कर कुछ उड़द देने की बात कहते हैं। महावत के यह कहने पर कि उसके पास इन झूठे उड़दों के सिवाय अन्य नहीं है। ऋषि उन्हीं में से कुछ देने की कहते हैं। महावत द्वारा उड़द व जल सामने रखने पर ऋषि उड़द यह कह कर ले लेते हैं कि उड़द तो मैं प्राण संकट में होने से आपद्धर्म समझकर खा रहा हूँ, पर जल नहीं लेते। कहते हैं - पीने का शुद्ध जल तो मुझे और कहीं भी मिल जाएगा, झूठा जल पीना स्वेच्छाचार होगा।

ऋषि कुछ उड़द पत्नी को देते हैं। वह उन्हें अपने पास रख लेती है। दूसरे दिन प्रातः काल ऋषि पत्नी से कहते हैं - जरा सा भी अन्न कहीं से खाने को मिल जाता तो चलने-फिरने लायक हो जाता। तब समीप स्थित राजा यज्ञ कर रहा है, यदि मैं वहां जाऊं तो वह ऋत्विक् के काम में मेरा भी वरण कर लेगा। पत्नी द्वारा बचे हुए उड़द देने पर, उन्हें खाकर वे राजा के यज्ञ में जाते हैं। यज्ञशाला में स्तुतिकर्ता, उद्गाता और प्रतिहर्ता से देवता को जाने बिना कर्म करने पर मस्तक गिरने की बात कहते हैं। अतः वे तीनों अपने कार्य को छोड़कर चुपचाप बैठ जाते हैं। राजा द्वारा परिचय जानने पर, राजा उनसे ऋत्विक संबंधी कार्य को ग्रहण करने को कहते हैं। तब वे राजा के प्रस्ताव को स्वीकार कर पहले वाले ऋत्विकों को अपना कर्म करने, स्वयं भी उतनी ही दक्षिणा ग्रहण करने की बात कहते हैं और उनके द्वारा पूछने पर ज्ञानार्थ बताते हैं - कि वह देवता "प्राण" हैं जिसकी स्तुति यज्ञ में की जाती है। निःसंदेह सब प्राणी प्रलय के समय प्राण में ही प्राण रूप होकर विलीन हो जाते हैं और फिर सृष्टि काल में प्राण से ही प्रकट होते हैं। वह उद्गाता को उत्तर देते हैं - वह देवता जिसका तुम उद्गीथ द्वारा गान करने जा रहे हो, वह "सूर्य" है। निश्चय ही सब प्राणी आकाश में स्थित सूर्य का ही यशोगान किया करते हैं। वही

सूर्य उद्गीथ से संबंध रखने वाला देवता है। प्रतिहर्ता के विनय पर कहते हैं - वह देवता जिसका प्रतिहार से संबंध है,"अन्न" है। नि:संदेह समस्त प्राणी अन्न को खाकर ही जीवन धारण करते हैं। आज विश्वव्यापी कोरोना महामारी में विज्ञान इनमें से किस तत्व को झुठला सकता है भला? अन्न की अशुद्धि से फैली इस बीमारी से उपस्थित प्राणों के संकट से बचने के लिए सूर्य के ताप के बढ़ने का हमने इंतजार किया।

मन और अन्न का पारस्परिक संबंध:- छांदोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के सातवें खंड में मन और अन्न का पारस्परिक संबंध एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है। उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा- यह शरीर सोलह कलाओं को धारण कर सकता है। यदि तुम पन्द्रह दिन तक भोजन ना करो और मात्र जल का ही सेवन करते रहो तो तुम्हारा जीवन नष्ट नहीं होगा, क्योंकि प्राण को जल रूप कहा गया है। केवल जल ग्रहण करने से जीवन का अंत नहीं होता। इस कथन की परीक्षा के लिए श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन तक भोजन नहीं किया। जल द्वारा ही अपने प्राणों को पुष्ट करता रहा।

पन्द्रह दिन बाद उद्दालक ने पुत्र श्वेतकेतु से कहा कि - वह जाये और वेदों का अध्ययन करे। किंतु वह ऐसा नहीं कर सका। उसे मंत्र याद नहीं होते थे। तब उद्दालक ने उसे भोजन करने को कहा और फिर मंत्र याद करने को कहा। इस बार उसे मंत्र याद हो गए। इससे पता चला कि जैसे जल प्राण के लिए अनिवार्य है उसी प्रकार अन्न भी मन के लिए अनिवार्य है। इसी प्रकार वाणी तभी प्रस्फुटित होती है, जब ज्ञान का तेज मनुष्य के भीतर होता है।

सत्य से आत्मा तक ब्रह्म की यात्रा:- छांदोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय के सोलह से छब्बीस खण्ड तक सत्य से आत्मा तक व्याप्त ब्रह्म के स्वरूपों का उल्लेख सनत् कुमार द्वारा नारद को उपदेश देते हुए वर्णित है - "सत्य को जानने के लिए विज्ञान और विज्ञान को मानने के लिए बुद्धि विशेष का उपयोग करना चाहिए। बुद्धि के लिए श्रद्धा का होना अनिवार्य है। श्रद्धा द्वारा ही बुद्धि किसी विषय का मनन कर पाती है। श्रद्धा के साथ निष्ठा का होना भी अनिवार्य है, क्योंकि निष्ठा के बिना श्रद्धा का जन्म नहीं होता। इसी प्रकार निष्ठा के लिए कृति का सामने होना आवश्यक है। ऐसी कृति सुख अथवा हर्ष प्रदान करने वाली होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही साधक निष्ठा पूर्वक श्रद्धा रख, बुद्धि से मनन करते हुए, वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर, सत्य की खोज कर पाता है।

धार्मिक कृत्यों में प्रतीक :- जीवनयापन की विविध विधाओं में उनका दृष्टिकोण "सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया" हेतु वैज्ञानिक आधार पर स्थित रहा है। उदाहरणार्थ धार्मिक स्थलों तथा शुभ कार्यों में पूजा की घंटी - शंख

वादन और गंगा जल के उपयोग की प्रथा का पालन अकारण नहीं था। वर्तमान वैज्ञानिक शोध का निष्कर्ष है कि पूजा की घंटी और शंख की ध्वनि से ऐसे सूक्ष्म कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं जो सूक्ष्मदर्शी यंत्र द्वारा भी नहीं देखे जा सकते। सामयिक कोरोना के कहर से बचने के किए हम आज भी इसकी शरण में हैं। गंगाजल से हैजा के कीटाणु भी मर जाते हैं। वर्षों तक रखने पर भी दूषित न होने वाला यह जल विश्व में केवल गंगा का ही है। इसी प्रकार शिखा से ब्रह्मरंध्र की सुरक्षा, यज्ञोपवित द्वारा शरीर में रक्त संचालन का विनिमय, गाय के गोबर द्वारा रोगाणुओं का नाश, तुलसी - चंदन के प्रयोग से तन मन की शुद्धि, जल का आचमन, होम - हवन इत्यादि असंख्य रीति रिवाज आडंबर नहीं, पूर्णतया वैज्ञानिक धरातल पर निर्मित हैं। स्वच्छता के महत्व को विश्व अब समझ रहा है जिसे प्रकृति के मध्य रह कर सादा जीवन जीने वाले हमारे पूर्वजों ने बहुत पहले न सिर्फ समझा था, वरन् उसके लिये नियम बना कर उन्हें माला के सुगन्धित पुष्पों की तरह जन जन की जीवनधारा से जोड़ दिया था। यहाँ हम कुछ उदाहरणों द्वारा अपनी बात स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे :-

ॐ :- यह भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण प्रतीक है। यह परमात्मा की सभी शक्तियों, सभी देवताओं का प्रतीक है। योगी समाधि में विश्व की सबसे पहली ध्वनि "ओऽम" को सुनते हैं, जिसे "ओंकार" कहते हैं। यह ध्वनि अर्थात् नाद् विश्व में सब जगह गूँजता रहता है। इसी के प्रतीक रूप में ॐ लिखा जाता है। नाद की प्रतीक ध्वनि लहरी बनाई जाती है और उसके ऊपर चंद्रबिंदु लगाया जाता है। क्योंकि सृष्टि नाद् रूप भी है और बिंदु रूप भी। नाद् - बिंदु के प्रतीकात्मक रूप में परमात्म रूप ॐ के प्रतीक का संदेश है कि हम परमात्मा, उसकी शक्तियों और विश्व को

भलीभांति जानने का प्रयत्न करें। प्रणव ॐ के साधकों को स्पष्ट अनुभव होता है कि इसके उच्चारण से वायुमंडल में चमत्कारी स्पंदन प्रवाहित होते हैं।

स्वास्तिक :- स्वास्तिक अर्थात् कल्याण। कल्याण की भावना से बनाया गया स्वास्तिक चारों दिशाओं में मंगल की भावना प्रसारित करता है। हमें संदेश देता है - हमारा कल्याण हो, हमारे परिवार देश व विश्व सभी का कल्याण हो।

दीपक :- मिट्टी के जलते हुए दीपक द्वारा भारतीय संस्कृति अज्ञान को नष्ट करने और पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होने का संदेश देती है। मिट्टी का बना दीपक मिट्टी से

बने मनुष्य शरीर का प्रतीक है। उसमें जलता घी, तेल हमारी जीवन शक्ति का प्रतीक है। वह संदेश देता है - जैसे तिल-तिल करके जलता हुआ दीपक प्रकाश के माध्यम से अंधकार को दूर करता है, वैसे ही हम अपने शारीरिक श्रम द्वारा संसार के अज्ञानांधकार को कम कर ज्ञान के प्रकाश को फैलाएं। घी का दीपक वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड को भी कम करता है। दीपावली पर लक्ष्मी पूजन में दीपमालिका द्वारा अमावस्या की अंधेरी रात को आलोकित करने का अर्थ है- हम भारतीय अपनी संस्कृति द्वारा संसार के अज्ञानांधकार को समाप्त कर ज्ञान रूपी प्रकाश फैलाएं - "तमसो मा ज्योतिर्गमय, मरत्योर्मामृतं गमय" का संदेश।

कलश :- हमारा शरीर भी मिट्टी के कलश के समान ही है जिसमें जीवन होता है, वैसे ही जल, घी, दूध, अनाज आदि से परिपूर्ण कलश ज्ञान, प्रेम, उत्साह, शक्ति, त्याग, ईश्वर भक्ति, देश प्रेम आदि से जीवन को भरे रखने का संदेश देता है।

तुलसी पूजन :- तुलसी एक आयुर्वेदिक औषधि है। इसके पत्ते व तना शरीर के हर छोटे-बड़े रोग के निवारण में सक्षम हैं। वैज्ञानिक रूप से

प्रमाणित हो चुका है कि तुलसी का पौधा अपने आसपास की वायु को भी शुद्ध करता है।

सूर्य नमस्कार :- सूर्य को जल चढ़ाने के पीछे का वैज्ञानिक सत्य यह है कि सूर्योदय की किरणें स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभकारी होती है जो शरीर में विटामिन डी की पूर्ति करती है।

उपवास :- उपवास से पाचन क्रिया संतुलित रहती है।

मन्त्र :- मंत्रों का उच्चारण पूजा को पूर्णता प्रदान करने के संग मन को एकाग्र (केंद्रित) कर शारीरिक- मानसिक ऊर्जा का विकास करते हैं। साथ ही साथ ब्लडप्रेशर को नियंत्रित करता है।

हवन :- किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति के हेतु हवन में प्रयोग होने वाली हवन सामग्री कीटाणुओं को नष्ट कर वातावरण को शुद्ध करती है।

पीपल की पूजा :- पीपल लगातार चौबीस घण्टे प्रचुर मात्रा में ऑक्सीजन देता है।

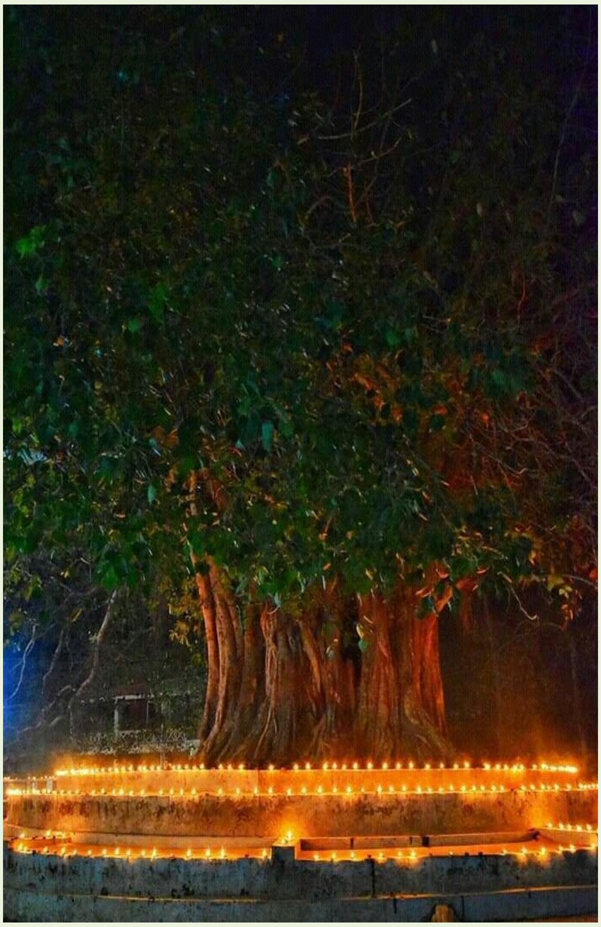

तिलक लगाना :- पूजन कर्म मस्तक पर तिलक लगाकर प्रारंभ किया जाता है। भ्रूमध्य में स्थित नर्व पॉइंट पर तिलक लगाने से हल्का सा दबाव पड़ता है जिससे रक्त संचार में वृद्धि होती है। एकाग्रता बढ़ती है। मस्तिष्क में रक्त की आपूर्ति नियंत्रित होती है।

इस समस्त विवेचन का सार यह है कि मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति और कल्याण के लिए उसके शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक तीनों प्रकार के समुचित विकास की आवश्यकता होती है। सब प्रकार के सांसारिक कार्यों को सुचारू रूप से संपन्न करने के लिए शरीर का स्वस्थ और सशक्त होना भी आवश्यक है। निर्बल शरीर वाला इस संघर्ष पूर्ण संसार में टिक नहीं सकता। साथ ही मन और बुद्धि का शिक्षा द्वारा उचित विकास करना भी परमावश्यक है, क्योंकि जब तक यह सच्चे रूप में मार्गदर्शन ना करें तब तक शारीरिक शक्ति प्रायः गलत रास्ते पर चली जाती है और लाभ के स्थान पर हानि उठानी पड़ती है। अंत में शरीर और मन दोनों को आत्मा के आदेशों का ध्यान रखना भी अनिवार्य है, क्योंकि हमारा अंतिम लक्ष्य आत्म कल्याण ही है। यदि केवल भौतिक उन्नति पर ही दृष्टि रखी गई और छल-बल-कौशल से येन केन प्रकारेण स्वार्थ की पूर्ति की गई तो उससे आत्मिक शांति नहीं मिलेगी। इसके बिना सब मिट्टी ही है। इसीलिए वेद के प्रारंभ में ही वेद माता गायत्री से गायत्री मंत्र द्वारा प्रार्थना की गई है - "धियो यो न प्रचोदयात्" अर्थात् वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की और प्रेरित करे"।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वैदिक काल में भारतीय संस्कृति सभ्यता के उच्चतम शिखर पर आरोहण कर रही थी। यहाँ धर्म व विज्ञान में कभी विरोध नहीं रहा। हो भी नहीं सकता क्योंकि जो कुछ भी जीवनोपयोगी, सर्वहिताय था उसे जनसामान्य के जीवन का अंग बनाने हेतु धर्म से जोड़कर दैनिक क्रियाकलापों में जीवनधारा के रूप में प्रवाहित

कर दिया गया। उसका स्वर आदेशात्मक या उपदेशात्मक नहीं था। व्यावहारिक था, क्योंकि वे इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे कि- संपूर्ण जड़ चेतन उसी एक शक्ति का विस्तार है। मानव की कोई भी शक्ति उस मौलिक प्रकृति की रचना नहीं कर सकती। भौतिक जगत के पदार्थों का बीज प्रकृति की कुक्षि में निहित है। सभी की अपनी पृथक पृथक भूमिका है, जिनका उसे निर्वाह करना है। तभी सृष्टि में संतुलन सम्भव है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में ज्योतिष और गणित जैसी विज्ञान सम्मत विद्याओं का भी सांवत्सरिक धार्मिक कार्यों, पूजा, उत्सव, समारोह, विवाह इत्यादि मांगलिक कार्यों में व्यापक प्रयोग होता रहा है। लगता है जैसे धर्म और विज्ञान हाथ से हाथ थामें साथ साथ चल रहे हैं।

अतः कहना होगा भारतीय चिंतन अपनी सात्विक जिज्ञासा के कारण ब्रह्मांड और उसके रचयिता विषयक गूढ़ रहस्यों की योग व साधना के माध्यम से निरंतर खोज करता रहा है, जिसके परिणामस्वरूप ब्रह्मांड के अज्ञात रहस्यों की, रस बलों तथा गुरुत्वाकर्षण शक्ति की, अंतरिक्ष के सुदूरतम ओर-छोर विषयक जानकारी लिपि बद्ध की गई।

उन्हें जीवनोपयोगी बनाते हुए धर्म से जोड़ पर्वो - त्यौहारों का आयोजन किया गया। भले ही उन्हें वर्षों तक कपोल कल्पना माना गया, गड़रिए के गीत कह कर हँसी उड़ाई गयी, परंतु जैसे-जैसे आधुनिक ब्रह्मांड विज्ञान की जानकारियाँ प्रकाश में आईं वैसे-वैसे वेदों, पुराणों एवं उपनिषद् साहित्य में वर्णित सृष्टि के रहस्यों की समानांतर सार्थकता प्रत्यक्ष होने लगी। आज पाश्चात्य जगत का भारतीय योग की ओर झुकाव इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि "आधुनिक विज्ञान पूर्व में योग की सात्विक विधि से प्राप्त ब्रह्मांड के रहस्यों की जानकारी वाली पगडण्डी की ओर बढ़ने लगा है।

सार रूप में इतना कि भारतीय धर्म "प्रेय मार्ग" से "श्रेय मार्ग" को श्रेष्ठ मानकर वैज्ञानिक किन्तु व्यावहारिक धरातल पर जीवन जीने का संदेश देते हुए, जड़-चेतन सभी को महत्व देते हुए सृष्टि नियामक पंच तत्वों के संतुलन बनाए रखने का आकांक्षी है। अतः धर्म के माध्यम से मानव जीवन के उन कर्तव्यों का निरूपण किया गया है जिसके बिना उसकी सफलता संभव नहीं। इसका निरूपण किसी जाति, संप्रदाय या देश के विचार से नहीं, वरन मानव प्रकृति को ध्यान में रखकर मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ किया गया है। इसी से "वेदोऽखिलो धर्म मूलम" की सार्थकता सिद्ध होती है। वस्तुतः प्रतिमाएँ तो प्रतीकार्थ होती हैं। वेदों के प्रतीक इस सत्य पर आधारित है -"जीवन यज्ञ रूप है, एक यात्रा है, एक युद्ध क्षेत्र है, जिस पर कर्म से विजय प्राप्त की जा सकती है"।

*****

हिंदी रंगालोचना और डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा का रंगालोचन कर्म

डॉ. श्वेता पण्ड्या,
हिंदी अध्ययनशाला विक्रम
विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)

रंग-आलोचना नाट्य क्षेत्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है, इसके बावजूद हिन्दी में इसे अभी तक व्यवस्थित रूप नहीं मिला है। रंग-समीक्षा रंगमंच सापेक्ष है और जिसे सही अर्थ में रंगमंचीय सक्रियता कहें, वह अभी हिन्दी भाषी क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अल्प है। पिछले दशकों में हिन्दी रंगमंच का नवोन्मेष अवश्य हुआ है, लेकिन जिसे व्यापक रंग-आन्दोलन कहा जा सके, वह कुछ अपवादों को छोड़कर अभी तक देखने में नहीं आया है। अपर्याप्त रंग सक्रियता के कारण रंग-आलोचना को विकसित होने का बहुत कम अवकाश मिला है। ऐसे हिन्दी दैनिक पत्र भीकम हैं, जो रंग-समीक्षाएँ नियमित रूप से प्रकाशित करते हों और उन्हें यथोचित स्थान देते हों। नाट्य पत्रिकाओं में और कुछ प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में भी रंग-आलोचना को स्थान मिलने लगा है, यह प्रसन्नता की बात है। रंगमंच के विकास एवं प्रसार के साथ-साथ रंग-आलोचना भी विकसित होगी तथा पुस्तक-समीक्षा की तरह एक शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में स्वीकृत होगी, ऐसा विश्वास किया जा सकता है। गहरे अर्थों में आलोचना से अभिप्राय साहित्य के मर्म की संकल्पात्मक अनुभूति और अनुभूति के कलात्मक सम्प्रेषण से है।

आलोचना का मूल अर्थ किसी भी वस्तु को सम्यक रूप से देखना, परखना और पड़ताल करना है। मनुष्य इन्द्रियों द्वारा अपने आस-पास की वस्तुओं को देखकर तथा उस पर चिन्तन कर अपने विचार प्रकट करता है, आलोचना की आत्मा कलामय होती है। आलोचक कृति का विवेचन, विश्लेषण कर उसके गुण-दोष बताता है। इसी सन्दर्भ में डॉ. रामेश्वर लाल खण्डेलवाल का मानना है कि आरम्भ में सामान्यतः यह धारणा प्रचलित थी कि आलोचना का अर्थ कृति विशेष के गुण-दोष का विवेचन मात्र है। लेखक और कवि की रचना का मूल्यांकन, व्याख्या आदि एक आलोचक गम्भीर आलोचना के माध्यम से प्रकट करता है। आलोचना शब्द लोचृ धातु से बना है, लोचृ का अर्थ है- देखना। अतः आलोचना का व्युत्पत्तिपरक अर्थ हुआ-किसी भी वस्तु को सूक्ष्म दृष्टि से देखना। इस प्रकार किसी वस्तु या कृति की सम्यक व्याख्या या मूल्यांकन करना ही आलोचना है। आलोचना एक ऐसी साहित्यिक

प्रक्रिया है जो कृति के सौन्दर्य का उद्घाटन, विवेचन, विश्लेषण तथा मूल्यांकन प्रस्तुत करती है। बाबू गुलाबराय आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृतियों को सभी दृष्टि से आस्वाद में सहायता देना, उसकी रुचियों को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गतिविधि निर्धारित करने में सहयोग देना मानते हैं। वर्तमान समय में आलोचना नए आयामों के साथ साहित्य को नई दृष्टि प्रदान कर रही है। इसलिए आज का युग आलोचना का युग कहलाने लगा है।

नाट्य-समीक्षा में कई बातें शामिल हैं। जैसे, एक स्तर पर नाटक के आलेख की समीक्षा और दूसरे स्तर पर उसके प्रस्तुतीकरण, रंग शिल्प और शैली की समीक्षा। नाटक की आलोचना में विशेष रूप से भाषा के सूक्ष्म परीक्षण की आवश्यकता होती है, क्योंकि नाटक केवल पढ़े जाने के लिए नहीं लिखा जाता, बल्कि मंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि नाटक की भाषा ऐसी हो कि वह तुरन्त अपनी तीव्रता और सूक्ष्मता के साथ सामने मौज़ूद दर्शकों को प्रभावित कर सके। नाटक की समीक्षा में व्यक्तियों के आचरण और उनके शब्दों के द्वारा ही हम उनकी मानसिकता और आंतरिक भावात्मक उथल-पुथल को समझते हैं। इसीलिए नाटक में चरित्रांकन, स्थितियों के संयोजन, भाषाई अभिव्यक्ति में ऐसा तारतम्य और एकाग्रता आवश्यक है, ताकि थोड़े ही समय में दर्शकों तक पहुँच जाए।

दूसरे स्तर पर, जब रंगालोचना होती है अर्थात् जब प्रदर्शन-समीक्षा होती है तो अभिनय और प्रदर्शन के तत्त्वों के साथ आलेख के संबंधों की जाँच भी आवश्यक हो जाती है। एक प्रस्तुति के मूल्यांकन में आलेख, अभिनय और अन्य चाक्षुष तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके समग्र संयोजन से पैदा होने वाले प्रभाव का परीक्षण आवश्यक है। इस कार्य में, ज़ाहिर है, आलेख या नाटक अन्य अनेक तत्त्वों में एक तत्त्व भर है, जो नाट्य-समीक्षा इस समग्रता को नहीं देखती या रेखांकित नहीं करती वह अपना काम पूरा नहीं करती।

रंग-आलोचना साहित्य की एक विशिष्ट विधा है। साहित्य की विधाओं में जितनी विशिष्ट नाट्य विधा है, उतनी ही विशिष्ट रंग-समीक्षा। प्रस्तुतीकरण की निहित क्षमता के कारण नाटक साहित्य के अन्यान्य रूप से भिन्न है- वह साहित्य भी है, साहित्य से कुछ अधिक भी। आचार्यों ने उसे दृश्यकाव्य कहकर उसकी

विशिष्टता को ही रेखांकित किया है। नाटक की इस विशिष्टता के कारण नाटकालोचन भी विशिष्ट हो जाता है। सामान्य साहित्यालोचन केवल कृति को आधार बनाता है, लेकिन नाटकालोचन के लिए साहित्यिक कृति के साथ-साथ रंगमंच का आधार भी अनिवार्य हो जाता है। शास्त्रज्ञान एवं रंगदृष्टि के समन्वित उपयोग के द्वारा ही नाटकालोचन सम्भव हो पाता है। रंग-आलोचना नाटकालोचन से भिन्न है। नाटकालोचन का आधार नाटक का आलेख मात्र होता है, यह दूसरी बात है कि उस आलेख में निहित रंग-क्षमता आलोचक की दृष्टि में हमेशा रहती है, लेकिन रंग-समीक्षा का आधार आलेख नहीं, प्रदर्शित नाटक होता है- रंग-समीक्षा वास्तव में नाट्य-समीक्षा है। नाट्य आलोचक सिद्धनाथ कुमार के अनुसार रंग-समीक्षा की परिभाषा है- नाटक का प्रस्तुतीकरण नाटककार की सृजनात्मक प्रतिभा एवं सहयोगियों की व्याख्यात्मक क्षमता के संयोग का प्रतिफलन होता है। रंग-समीक्षा इस प्रतिफलन की व्याख्या, विश्लेषण एवं मूल्यांकन है। वे यह भी मानते हैं कि प्रदर्शित नाटक की जो समीक्षा है, वह वास्तव में नाटक की समीक्षा नहीं है, वह तो विभिन्न सहयोगियों के प्रयत्न से प्रस्तुत नाट्य-सृष्टि की समीक्षा है और उसे रंग-समीक्षा कहना अधिक उपयुक्त होगा। स्पष्ट है कि नाटकालोचन से रंग-समीक्षा की भिन्नता स्पष्टतः देखी जा सकती है। प्रस्तुतीकरण में नाटक का कोई पक्ष अधिक उभरकर सामने आता है, कोई पक्ष दब जाता है, कोई चरित्र विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है और इस तरह रंगमंच पर हर बार घटनाओं, चरित्रों, शब्दों आदि की नई व्याख्या होती है, होनी चाहिए। रंग-समीक्षा हर नई व्याख्या को रेखांकित करती है। नाट्य-प्रदर्शन यदि नाटक की व्याख्या है तो रंग-समीक्षा इस व्याख्या की व्याख्या है।

आज की रंग-आलोचना प्रबुद्ध और अत्यन्त उदार दृष्टि की माँग करती है जिससे नए प्रयोगों को भी उचित स्वीकृति मिल सके। प्रयोग के इस युग में रंग-आलोचना का दायित्व बहुत बढ़ गया है। उसे देखना है कि सार्थक प्रयोग स्वीकृत-समादृत हों और केवल प्रयोग के लिए किए जाने वाले प्रयोगों को महत्त्व न मिले। इसके लिए प्रखर विश्लेषण-क्षमता अपेक्षित है। नए प्रयोगों को स्वीकृति प्राप्त करवाने के लिए यह भी आवश्यक है कि उनकी सही व्याख्या हो। प्रबुद्ध व्याख्याकार बनकर रंग-समीक्षक नई रचनाओं को सामान्य प्रेक्षकों के लिए बोधगम्य बना सकता है। नाट्य के रूपबन्ध, प्रदर्शन शैली,

रंगशिल्प और अभिनय की समालोचना, रंगालोचना के महत्त्वपूर्ण आयाम हैं। ये सभी तत्त्व मिलकर नाट्य की दृश्य काव्यात्मकता को साकार करते हैं। इन सभी की पड़ताल कथ्य के साथ अभिन्न रूप में की जानी बेहद जरूरी होती है। कोई भी तत्त्व समूचेपन के साथ ही रंगालोचना को सम्यक आधार दे सकता है, स्वतन्त्र रूप में उनका विशेष मूल्य नहीं है। एक सम्पूर्ण रंग-समीक्षा हेतु अपेक्षित उपर्युक्त तमाम रंग-तत्त्वों के विवेचक एवं विश्लेषक के रूप में प्रख्यात रंग-समीक्षक डॉ शैलेन्द्रकुमार शर्मा का नाम उल्लेखनीय है।

कहा गया है, 'उत्तम संस्कारों के सिंचन से ही जीवनरूपी पौधा पल्लवित एवं पुष्पित होकर अपने परिसर को सुरभित बनाता है।'तत्त्व चिन्तकों का यह कथन किसी भी साहित्यकार के समग्र जीवन का लघुतम आकलन प्रस्तुत करता है। इस आकलन का सत्यापन भारत के हृदय मध्य प्रदेश के बहुश्रुतविद्वान् आचार्य डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा की साहित्य सर्जना के द्वारा सहज रूप से किया जा सकता है। प्रो. शर्मा ने वैश्वीकरण की वर्तमान परिस्थितियों में हिन्दी भाषा और साहित्य की समस्त गतिविधियों में सक्रिय योगदान दिया तथा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर नेतृत्व प्रदान किया है। संचार की अत्याधुनिक तकनीकों के मध्य उन्होंने देवनागरी लिपि के स्वरूप और उसके व्यापक प्रचार-प्रसार को सहज एवं सुलभ बनाने का सारस्वत कार्य किया है। शब्द की शक्ति और लिपि में निहित ऊर्जा को उन्होंने भारतीय मनीषा का बहुमूल्य सांस्कृतिक अवदान सिद्ध किया है। भारतीय संस्कृति, साहित्य, कला एवं रंगालोचन आदि क्षेत्रों के साथ ही वे भारत के हृदय क्षेत्र मालवा के प्रतिनिधि रचनाकार, चिन्तक और कला-मर्मज्ञ हैं। वर्तमान में सामासिक संस्कृति की उद्घोषणाओं के मध्य उनका लोक-संस्कृति तथा उसके कलात्मक वैशिष्ट्य एवं रंगालोचन के प्रति सहज रुझान है। आधुनिक रंगकर्म एवं चेतना के विविध आयामों का उन्होंने आलोचनात्मक विश्लेषण किया है। डॉ. शर्मा हिन्दी रंग-समीक्षक के रूप में एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनके रंग-समीक्षा लेखन का बीजवपन सन् 1986 में हुआ। तब से प्रारम्भ होकर विधिवत् रंग-समीक्षक के रूप में स्थापित होने के उपरान्त अनवरत जारी है। उनका रंग-चिन्तन प्रयोग सापेक्ष है। प्रयोगों के आधार पर ही उन्होंने रंग-समीक्षाएँ की हैं। हम यहाँ उनके द्वारा अपनी रंगालोचना के परिप्रेक्ष्य में किए गए चिन्तन और अवदान को सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत विवेचन करेंगे।

रंग-आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष पर प्रो. शैलेन्द्रकुमार शर्मा ने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। वे भरतमुनि के नाट्य विवेचन को आधार मानते हैं, उन्हीं के विचारों में नाट्य को कई भावों से समन्वित मानकर उनकी कई अवस्थाएँ भी स्वीकारते हैं, जो लोक चरित्र का अनुकरण ही है। वे इसे दीन-दुःखियों के लिए विश्राम देने वाला और व्यापकता के कारण लोकरंजनकारी मानते हैं। उनके अनुसार आपाधापी के युग में नाट्य-सौन्दर्य से उपजा आनन्द फूलों की तरह काँटों एवं कष्टों को स्वीकारना सिखाता है। उसका सौन्दर्य वे साधारणीकरण के रूप में स्वीकारते हैं। वे नाट्य सहित समस्त कलारूपों के अंतरंग तथा बहिरंग प्रयोजनों को भी मानते हैं और उनकी दृष्टि में नाट्य एवं अन्य कलाएँ, मनोरंजन उद्योग के विकास में जीविकोपार्जन के महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में उभर रही हैं। इसमें आजीविका की अपार सम्भावनाएँ मौजूद हैं। रंगमंच के प्राणवान बने रहने में वे निष्ठावान रंगकर्मियों के योगदान एवं क्रियाशीलता को मानते हैं। वे रंगमंच को कलाकार का सम्पूर्णता में स्वयं को व्यक्त करने का महत्वपूर्ण माध्यम स्वीकारते हैं। वे अपने अभिनय संबंधी चिन्तन में भरतमुनि के विचारों से प्रभावित हैं। उन्होंने पश्चिम के प्रमुख रंग चिन्तकों की परम्परा पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। वे बीसवीं शती के चिन्तकों में स्तानिस्लाव्स्की, मेयरहोल्ड, मिशेल, चेखव आदि को विशेष महत्त्व देते हैं। उनके चिन्तन के प्रमुख आधारों का विवेचन भी उन्होंने अपने कई आलेखों में किया है। वे रंगालोचन को विशिष्ट विधा के रूप में स्वीकारते हैं, जिसमें नाट्य संबंधी प्रदर्शनकारी कला का समावेश होता है। वे रंगालोचना को जीवन की आलोचना कहते हैं तथा उनके रंग-चिन्तन में रंगालोचन के वर्तमान एवं भविष्य पर भी व्यापक विमर्श प्राप्त होता है।

प्रो. शर्मा अभिनय में मनोशारीरिक क्रिया और गति अभिनटन का विशेष महत्त्व स्वीकारते हैं। वे नाट्य को समस्त कलाओं के समाहार से निष्पन्न अनुपम कला मानते हैं, जिसकी व्याप्ति और विस्तार में कोई अन्य माध्यम उसके समकक्ष नहीं ठहरता। वे नाट्य एवं कला की सार्थकता नवचेतना के स्वीकार्य होने पर मान्य करते हैं। वे प्रत्येक उस अनुभूति को वरीयता देते हैं जो नाटक को जीवन्तता दे और दर्शकों को रसानुभूति दे सके। भारतीय सन्दर्भ में वे रंगालोचना एवं रंग प्रशिक्षण के क्षेत्र को विकसनशील मानकर उसमें निहित अपार सम्भावनाओं का उल्लेख भी करते हैं। डॉ. शर्मा जी नाट्य-प्रदर्शन के गुण-दोष विवेचन को रंग-समीक्षा न मानते हुए दर्शक और पाठक की समझ को समृद्ध एवं विकसित करने वाली मानते हैं। इंटरनेट तथा सोशल मीडिया के समय में नाट्य की व्याप्ति के विषय में चर्चा करते हैं कि कुछ वरिष्ठ और युवा एक ज़िद के रूप में इस दिशा में सक्रिय हैं। आज रंग-समीक्षा कुछ

अपवादों को छोड़कर रंग-वृत्तान्त में बदल गई है। अख़बार के सम्पादक, छायाकार और संवाददाता को प्रस्तुति में भेजकर महज़ दूरभाष पर आयोजकों से बात कर समाचारया फोटो के साथ विवरण भर छापकर अपने कर्तव्य से मुक्त हो जाते हैं। रंग-आलोचना की इस प्रकार की दशा पर वे चिन्ता भी व्यक्त करते हैं।

हिन्दी रंगालोचन की समृद्धता को स्वीकार कर नेमिचन्द्र जैन जैसे रंग-समीक्षक का उल्लेख करते हुए विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख भी करते हैं, जो रंग-समीक्षा के क्षेत्र में लगातार कार्य कर रही हैं। रंगकर्म को बचाना रंग-समीक्षक का दायित्व मानते हैं जिससे रंगकर्मियों को प्रोत्साहित किया जा सके। दर्शक को भी वे रंग-समीक्षा का महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं। संस्कृत रंग-समीक्षा, लोक-नाट्य प्रदर्शन से भिन्न होती है। अतः प्रस्तुति के मिज़ाज के आधार पर रंग-समीक्षा के मानदंड तय किए जाने चाहिएं। वे रंग-समीक्षक के लिए गहरी संवेदनशीलता, नाट्य भाषा और रंग तकनीकों की समझ को आवश्यक मानते हैं। रंग-समीक्षक को रंगमंच की विशेषताओं के साथ सामयिक प्रवृत्तियों के ज्ञान के साथ ही लेखकीय कौशल का समुचित ज्ञान भी वे जरूरी मानते हैं। उसे बगैर किसी पूर्वाग्रह के ईमानदार और तटस्थ मूल्यांकन करना चाहिए। इनके अलावा उन्होंने भारत में रंग-आलोचना की स्थिति और सम्भावनाओं, रंगकर्मी और नाट्य-प्रशिक्षण, रंगकेन्द्र, नाट्यालेख, रंगभाषा, दर्शक आदि पर भी महत्त्वपूर्ण विचार किया है।

व्यावहारिक रंग-आलोचना की दृष्टि से डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा का आलोचनाकर्म अधिक विस्तृत है, जिसमें संस्कृत नाट्य, लोक-नाट्य, भारतेन्दु युगीन नाटक, प्रसाद युगीन नाटक, प्रसादोत्तर नाटक, भारतीय एवं विदेशी भाषाओं के मूल या अनूदित नाटक, कथा एवं अन्य विधाओं के मंचावतरण, बालनाट्य एवं नृत्य नाटिका इत्यादि विविध आयाम सम्मिलित हैं। उन्होंने संस्कृत रंग प्रदर्शनों में भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, बोधायन, भट्टनारायण, दिङ्नाग, भवभूति, राजशेखर तथा वत्सराजप्रभृतिनाटककारों के नाटकों के प्रदर्शन की आलोचना की है। संस्कृत रंगकर्म की जो समृद्ध रंग परम्परा है, उसे डॉ. शर्मा बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। वे जब इन प्रदर्शनों की समीक्षा करते हैं तो संस्कृत नाट्यों के तमाम तत्त्वों को दृष्टि में रखकर अपनी बात कहते हैं। एक प्रकार से बड़े विस्तृत फलक पर उनका चिन्तन हमें दिखाई देता है, जो अपने आप में बहुत महत्त्व का है। उनके द्वारा लोक-नाट्य के प्रदर्शनों की

समीक्षा में वीर तेजाजी, उत्सव कृष्ण, राजयोगी भर्तृहरि, ढोला मारूनी, सुदबुदसालंगा, गोपीचन्द, राजा विक्रमादित्य एवं भक्त पूरनमल आदि उल्लेखनीय हैं। वे लोक-नाट्यों के प्रति अपनी अनन्य आस्था रखते हैं। परिणामस्वरूप वे लोक कला के सभी तत्त्वों नृत्य, संगीत, रस, वेशभूषा, स्वरालाप आदि को बहुत महत्त्व देते हैं। वे लयात्मक संवाद, मुखौटे, रूपसज्जा को भी दृष्टि में रखते हैं। इस प्रकार वे एक स्वच्छ और सम्पूर्ण समीक्षा करते हैं। प्रसादोत्तर कृतियों के रंग प्रदर्शनों में प्रो. शर्मा ने अज्ञेय के नाटकों के प्रदर्शनों से लेकर साठोत्तरी नाटककारों में मोहन राकेश, उषा गांगुली, मीराकान्त, शेखर सेन आदि के नाटकों के प्रदर्शनों की समीक्षाएँ की हैं। बाल नाट्य तथा नृत्य-नाट्य के प्रदर्शनों की समीक्षाएँ भी उनके द्वारा विस्तार से की गई हैं, जिनमें शास्त्र देखो शास्त्र, हड्डी, दीपदान, श्रीकृष्णंवन्देजगद्गुरुम्, ऋतुसंहारम्, गदायुद्ध, बांग्ला नाट्य-चित्रांगदा आदि मुख्य रूप से सम्मिलित हैं। इन नाटकों की समीक्षा से स्पष्ट है कि डॉ शर्मा की बाल नाट्यों एवं नृत्य-नाट्यों के प्रति रुचि भी है। नृत्य-नाट्यों की समीक्षा के समय कथक, भरतनाट्यम्, ओडिसी, कुचिपुड़ी, यक्षगान जैसी विभिन्न प्रकार की नृत्य-शैलियों के परिचायक के रूप में भी उनकी उपस्थिति दिखाई देती है।

डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा रंगालोचना के क्षेत्र में अपनी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रंग-समीक्षा के विस्तृत विवेचन के फलस्वरूप अपना वैशिष्ट्य रखते हैं। नाट्य- स्वरूप, नाट्य-सौंदर्य, रंगमंच, रंगतत्त्व, रंगालोचना के मानदण्ड के साथ ही हिन्दी रंगालोचना विषयक प्रकीर्ण विषयों पर भी उन्होंने विशद एवं अन्तर्दृष्टिपूर्ण विचार किया है। चूँकि भारतीय रंग परम्परा में नाट्य से सम्बद्ध कोई भी विवेचन भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित नाट्यशास्त्र की चर्चा के बग़ैर पूर्ण नहीं हो सकता है। अतः डॉ. शर्मा अपने विवेचन में भरतमुनि से निरन्तर प्रेरित एवं प्रभावित परिलक्षित होते हैं जो उनके चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उनके अनुसार किसी स्थिति, प्रसंग या कथोपकथन का अभिनय के माध्यम से रसात्मक प्रत्यक्षीकरण नाट्य है नाट्य-सौंदर्य की उन्होंने व्यापक फलक पर मीमांसा की है। इसमें वे तमाम प्रकार की कलाएँ, भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों के मतों की पुष्टि के साथ अपना स्वयं का मत प्रतिपादित करते हैं। उनकी दृष्टि में नाट्य की जो सौन्दर्यानुभूति है वह सम्पूर्ण जीवन दर्शन के साथ समन्वित है। उनकी धारणा है कि भारत में सौंदर्य और नीति अथवा धर्म को लेकर उस प्रकार का द्वन्द्व कभी नहीं रहा जिस प्रकार का पश्चिम में बार-बार उभरता रहा है। वे रंगमंच के समक्ष हर दौर में आ रही विभिन्न प्रकार की चुनौतियों को रेखांकित करते हुए उनके निदान

के सुझाव तथा इन चुनौतियों से जूझते कुछ निष्ठावान रंगकर्मियों को महत्त्व देते हैं। डॉ. शर्मा की रंग दृष्टि पूर्ण रूप से भारतीय रंगमंच की जड़ों से रस ग्रहण करती दिखाई देती है। वे एकमात्र रंगतत्त्व अभिनय के वैशिष्ट्य को स्वीकार करते हैं।'अभिनीयते इति अभिनयः' की उक्ति को उद्घाटित करते हुए अभिनय के विविध आयामों पर विस्तार से चर्चा करते हैं। रंग-आलोचना के विषय में उनकी मान्यता है कि एक अभिनयात्मक कला के रूप में नाट्य की आलोचना रंगालोचना है, जो किसी नाट्य प्रदर्शन के प्रत्यक्ष आस्वाद के आधार पर की जाती है। डॉ. शर्मा रंग-समीक्षकों के लिए थिएटर की व्यापक समझ का होना अनिवार्य समझते हैं। वे कहते हैं कि रंगमंच के सर्व समावेशी वैशिष्ट्य को जाने बग़ैर वे इस दिशा में सफल नहीं हो सकेंगे। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि रंग-समीक्षक को निष्पक्ष तथा तटस्थ रहना चाहिए।

प्रो. शर्मा की रंगदृष्टि सही अर्थों में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों स्तरों पर विशिष्टता लिए हुए है। वे न केवल साहित्य जगत् में वरन् सम्पूर्ण समाज में हिन्दी रंग-आलोचना का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करते हैं। उनके द्वारा प्राचीन संस्कृत नाटकों के साथ ही अन्य विधाओं के नाटकों के रंग प्रदर्शन की समीक्षा बड़े ही अच्छे ढंग से की गई है। वे शिल्प पक्ष और शैली के स्तर पर भी सुस्पष्ट व्याख्या करते हैं। अभिनेयता पर बल के साथ प्रायः सभी प्रकार के माध्यमों पर सम्यक् समीक्षा करते हैं। अतः उनकी समीक्षा रंगालोचन के तीनों ही तत्त्वों - कथ्य, अभिव्यक्ति और रंगमंच का सम्यक् परीक्षण है। स्पष्ट है कि डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा अपनी सर्वसमावेशी रंग-समीक्षा के परिणामस्वरूप व्यापक फलक पर अपना वैशिष्ट्य लिए हुए हैं।

समकालीन रंगालोचना के क्षेत्र में डॉ. शर्मा जी का अवदान अप्रतिम है। प्राक्स्वातन्त्र्यरंगालोचना में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, बाबू राधा कृष्णदास, प्रताप नारायण मिश्र, जगदीश चन्द्र माथुर के द्वारा की गई कुछ समीक्षाएँ हैं। युग विशेष की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में दी गई सम्पादकीय टिप्पणियाँ, समाचार पत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों, नाट्य समीक्षाओं तथा नाटकीय भूमिकाओं और प्रस्तावनाओं में उपलब्ध सन्दर्भों के अध्ययन के माध्यम से कहा जा सकता है कि उस समय हिन्दी के सैकड़ों नाटक स्थान-स्थान पर खेले गए थे तथा उनकी रंग-समीक्षा के छुट-पुट उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनके आधार पर व्यवस्थित रंग-समीक्षा के कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं।

हिन्दी में रंग-समीक्षा का विधिवत आरम्भ नेमिचन्द्र जैन से होता है। नेमिचन्द्र जैन के पूर्व रंग-समीक्षाएँ तो हुई हैं, लेकिन उन्हें हम इस संदर्भ में एक प्रकार का आरम्भिक

प्रयास ही कह सकते हैं। नेमिचन्द्र जैन में आकर रंग-आलोचना एक सुनिश्चित आकार ग्रहण करती है। परवर्ती रंग-समीक्षकों ने नेमिचन्द्र जैन के दिखाए मार्ग पर चलकर अपने-अपने ढंग से हिन्दी रंगालोचन की परंपरा को आगे बढ़ाया। इस परंपरा को एक प्रकार के नएपन और ताजगी के साथ ऊँचाई तक पहुँचाने वाले समीक्षकों में प्रो. शर्मा अन्यतम हैं। उनकी रंग-समीक्षाएँ आकार और गुणवत्ता की दृष्टि से विस्तृत और गंभीरता लिए हुए हैं। उन्होंने चलताऊ ढंग से रंग-समीक्षा नहीं की है चाहे कोई प्रदर्शन कितना भी कमजोर क्यों न रहा हो। एक समीक्षक के रूप में उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन पूरी निष्ठा और ईमानदारी से किया है। वे पूर्वाग्रह रहित और तटस्थ समीक्षक हैं। उनकी समीक्षाओं में हमें एक प्रकार की समग्रता भी दिखाई देती है। नाटक के प्रदर्शन से सम्बन्धित कोई भी अंग उनकी पैनी दृष्टि से छूटा नहीं है। चाहे अभिनय पक्ष हो, मंच सज्जा हो, प्रकाश योजना, दृश्यबन्ध और वेशभूषा हो। वे चतुर्विध अभिनय जिसमें आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य हैं, को भी अपनी समीक्षाओं में समेटते हुए चलते हैं। नाटककार की सृष्टि और निर्देशक की प्रस्तुति में जो साम्य, अन्तर और विरोधाभास है, वह भी उनकी समीक्षाओं में नज़र आता है। कुल मिलाकर पाठ और प्रदर्शन के बीच का जो तनाव है उस तनाव को भी एक समीक्षक के रूप में वे बड़ी शिद्दत के साथ अनुभव करते हैं और फिर उसे अपनी समीक्षा में बख़ूबी उतारने की कोशिश करते हैं एवं इस प्रयत्न में वे सफल होते हुए दिखाई देते हैं।

पारम्परिक भारतीय रंगदृष्टि, लोक रंगमंच की दृष्टि और पश्चिम की आधुनिक रंगदृष्टि इन तीनों के संयोग से प्रो. शैलेन्द्रकुमार शर्मा ने अपनी एक नई तथा निजी आलोचना दृष्टि को विकसित किया है, जो उनकी एक विशिष्ट पहचान बन गई है। हिन्दी में बहुत कम समीक्षक हैं, जिन्होंने इतनी प्रदीर्घ रंग-समीक्षाएँ लिखी हैं। प्रदीर्घ होने के साथ-साथ जिसमें हमें एक प्रकार की समग्रता भी दिखाई देती है। लोक-नाट्यों के प्रदर्शनों की जो समीक्षाएँ हैं वह हमें अन्य समीक्षकों में बहुत कम या न के बराबर मिलती हैं। शास्त्रीय रंगमंच और लोक रंगमंच को कभी-कभी एक-दूसरे के विरोधी रूप में जो देखा जाता है, इस विरोध का शमन करने की ईमानदार कोशिश हमें उनकी समीक्षाओं में दृष्टिगत होती है। प्रो. शर्मा के यहाँ आकर रंग-

आलोचना को सुदृढ़ एवं व्यवस्थित आकार मिला है, जिसमें भारतीय रंग तत्त्वों (शास्त्रीय और लोक) का भरपूर और सार्थक प्रयोग हुआ है, जो परवर्ती रंग-समीक्षकों के लिए पथ-प्रदर्शक सिद्ध हो सकता है। इस तरह प्रो. शर्मा ने हिन्दी रंगालोचन की परम्परा को अपने कृतित्व से न केवल समृद्ध किया, वरन् उसे गति प्रदान करते हुए शिखर तक पहुँचाया। उन्होंने अपनी समीक्षा की शब्दावली को अनुवाद पर आश्रित न करते हुए पारम्परिक संस्कृत पदावली तथा लोक रंगमंच से जुड़ी समृद्ध शब्दावली का प्रयोग करते हुए अपनी आलोचना के एक नए मुहावरे को गढ़ने का प्रयास किया, जो निश्चित रूप से दर्शक और पाठक की समझ को विकसित और समृद्ध करने में सफल हुई है। नाट्यानुभूति और नाट्यभाषा पर उनकी गहरी पकड़ है, उन्होंने अपनी समीक्षाओं में इसका बराबर ध्यान रखा है कि इनका संतुलन बराबर बना रहे, बिगड़ न पाए। अपनी रंग-समीक्षा को उन्होंने रंग-वृत्तान्त का रूप देने की कोशिश नहीं की है। उनकी रंग-आलोचना में गहरी संवेदनशीलता, नाट्यभाषा और रंग तकनीक की बहुत गहरी समझ दिखाई देती है। नाट्य की शैली और परम्परा का समुचित ज्ञान परिलक्षित होता है। विधिवत् रंगालोचना का स्थान जिन कुछ गिने-चुने समीक्षकों के यहाँ विस्तृत रंग-आलोचना के रूप में उपलब्ध होता है, वहाँ प्रो. शैलेन्द्रकुमार शर्मा का स्थान सर्वोपरि है।

समग्रतः डॉ शर्मा का नाट्य चिन्तन हमें समीक्षा जगत् के फलक पर अलग ही दिखाई देता है जो स्वयमेव ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अपनी साहित्यिक प्रतिभा की मुखर अभिव्यक्ति के माध्यम से उन्होंने अपना विशेष स्थान स्वयं ही निर्मित किया है। समकालीन रंगालोचना के क्षेत्र में उनका अवदान अप्रतिम है। कहना गलत नहीं होगा कि रंग आलोचना के प्रमुख स्तम्भ नेमिचन्द्र जैन द्वारा रंग-समीक्षा के आगाज़ को प्रो. शर्मा ने नए क्षितिज तक पहुँचाया है जो विशेष गुणवत्ता लिए हुए है। उनकी नई और विशिष्ट शैली ही आज उनकी पहचान बन चुकी है। उनके साहित्यिक प्रयास ने, जिनमें नैरन्तर्य है, रंग-आलोचना को नवीन, सुदृढ़ और सुव्यवस्थित आकार दिया है। न केवल हिन्दी वरन् लोक रंगमंच से जुड़ी समृद्ध शब्दावली का प्रयोग करते हुए अपनी आलोचना में नवीनता लाने का भी प्रयास प्रो. शर्मा ने किया है जो कि साहित्य प्रेमियों के लिए अमूल्य धरोहर है।

रंग-आलोचना में प्रो. शर्मा का स्थान शीर्ष पर इसीलिए भी है कि उनकी समीक्षा में रंग तकनीकी, नाट्यभाषा की गहरी समझ और अनुभावित संवेदनाओं की छुअन पाठकों को परिलक्षित होती है। वस्तुतः डॉ. शर्मा की रंगालोचना भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से प्रभावित होने की वजह से वे समस्त खूबियाँ समेटे हुए है जो समीक्षकों से अपेक्षित है।

*****

अप्रतिम इतिहास और मनोरम प्रकृति का पर्याय मिर्जापुर

अमृता पाण्डेय,
वरिष्ठ अनुवाद अधिकारी,
संस्कृति मंत्रालय

भारत की विशाल भूमि के उत्तरी भाग में अवस्थित है हमारा उत्तर प्रदेश,जिसमें एक जिला है मिर्जापुर। यह जिला विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों का जीता जागता उदाहरण है। यही वह स्थान है,जहां पौराणिक नदी गंगा विंध्य क्षेत्र से जाकर मिलती है। विगत में मिर्जापुर और संगम स्थली प्रयागराज अलग और विभिन्न मंडलों में विभाजित नहीं थे। इतिहास में लिखा है कि मिर्जापुर का अधिकतर वर्तमान भाग अंग्रेजों द्वारा बनाया गया है। इस शहर के आरंभिक विकास की नींव ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा सन् 1775 में रखी गई थी। "लॉर्ड मार्कस वेलेजली" ने **बरियर घाट** (स्थानीय लोग इसे बरिया घाट कहते हैं) से मिर्जापुर में प्रवेश करने के लिए गंगा किनारे निर्माण का काम शुरू किया था,जिसके कुछ साक्ष्य इतिहास में मिलते हैं। मिर्जापुर शहर में लॉर्ड वेलेजली के नाम से एक स्थान है- वेलेजलीगंज, जो मिर्जापुर का पहला बाजार भी है।

इतिहास में मौर्य वंश के शासन के दौरान बुद्ध स्तूप और अशोक स्तंभ के निर्माण में बलुआ पत्थर का उपयोग हुआ है,जो मिर्जापुर में बहुत प्रसिद्ध है। बोलचाल के लिए हिंदी भाषा, जिसे यहां के निवासी खड़ी बोली भी बोलते हैं, के अलावा भोजपुरी भाषा का भी उपयोग किया जाता है। एक शांत और सौम्य वातावरण के साथ-साथ मिर्जापुर में सभी धर्मों और जातियों के लोग एक साथ मिलजुलकर रहते हैं। गंगा किनारे बसा यह जिला अपने प्राकृतिक और अलौकिक रूप के कारण सबको बरबस ही अपनी ओर आकर्षित करता है। इस शहर की कुछ तस्वीरें हैं जो मैंने स्वयं अपने कैमरे में कैद की हैं। इन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति मंत्रमुग्ध हो जाता है। यहां के गांव-गांव भी अपने में प्राकृतिक सौंदर्य और प्राचीन धरोहर को समेटे हुए हैं। विंध्य क्षेत्र में बसा यह शहर बहुत ही जीवंत और प्राकृतिक रुप से समृद्ध है।

मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश का एक तेजगति से उभरता हुआ शहर है,जो न केवल अपने कालीन बुनाई हुनर के लिए जाना जाता है बल्कि यह पीतल के बर्तनों के उद्योग, त्यौहारों,खान-पान और अतुलनीय पर्यटक स्थानों के लिए भी जाना जाता है। हमारे मिर्जापुर में निहित गंगा-जमुनी संस्कृति समवेत रूप से जीवन का आधार स्तंभ

है जो आज भी पल्लवित होती आ रही है। मिर्जापुर के कण-कण में यहां के लोक गीत-संगीत, नृत्य और हृदय को छू लेने वाली मनमोहक कविताएं बसी हैं। अनवर मिर्जापुरी से लेकर सफदर मिर्जापुरी तक की गजलों से शहर का वातावरण आज भी शायराना हो जाता है।

प्राचीन मंदिरों और दरगाहों से लेकर विशाल किलों तक, वास्तुकला और इतिहास के प्रेमियों के लिए मिर्जापुर एक अद्भुत स्थान है। मिर्जापुर के लगभग दस स्थल ऐसे हैं जो राज्य सरकार द्वारा संरक्षित प्रसिद्ध धरोहर हैं-भुलई का प्राचीन स्थल, सारनाथ मंदिर, लेखनिया पहाड़, सिद्धनाथ की दरी, महापाषाण अवशेष और ऐसे

गंगा नदी के किनारे बसा
मिर्जापुर का एक घाट-नारायण घाट

ही अनेकों चित्रात्मक पहाड़ी पत्थर हैं जो दर्शनीय हैं। मिर्जापुर के **नारघाट** पर गंगा आरती सबको भक्ति-भाव से ओत-प्रोत कर देती है और वहीं दूसरी तरफ पक्का घाट की वास्तुकला बेजोड़ है।

मिर्जापुर के तीज-त्यौहार

मिर्जापुर की विशेषता है सौहार्द्रपूर्ण तरीके से मानए जाने वाले त्यौहार,जो लोगों के जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन त्यौहारों का जुड़ाव पुराणों,लोक-कथाओं आदि में मिलता है। इन त्यौहारों के बहाने ही लोग एक-दूसरे से मिलते हैं, और साथ में कुछ अविस्मरणीय पल भी व्यतीत करते हैं। हमारे इस शहर में जीवितपुत्रिका, ओझला का मेला, ललही छठ, बसंत नवरात्री और शारदीय नवरात्री,रामलीला जैसे कुछ महत्वपूर्ण त्यौहारों का आयोजन किया जाता है। आइए कुछ अन्य त्यौहारों के बारे में भी जानते हैं -

सुप्रसिद्ध त्यौहार दीपोत्सव- दीपावली या कार्तिक अमावस्या पर स्थानीय लोगों द्वारा दीप महोत्सव मनाया जाता है। इस दिन लोग गंगा घाट या अपने मंदिरों या घर के बाहर दीपों से घर-आंगन को सजाते हैं,जो बहुत ही सुंदर और आकर्षक लगते हैं। इस दिन लोग भगवान राम के अयोध्या वापस आने की खुशी में अपने-अपने घरों में पूजा करने के बाद दीप जलाते हैं और मधुर गीत गाते हैं, जैसे-

"सभी मिल मंगल गाओ रे

अवध में राम पधारे हैं" ...

यहां एक और त्यौहार **"कजरी महोत्सव"** अत्यंत उत्साहपूर्वक मनाया जाता है। यह अन्य त्यौहारों से अलग है,क्योंकि यह विरह गीत है। कजरी में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन अधिक मिलता है। स्थानीय लोगों में एक ऐसी कथा प्रचलित है,जो कि राजा कंतित नरेश की पुत्री से जुड़ी है। राजा की पुत्री का नाम कजली था और वह अपने पति से अत्यधिक प्रेम करती थी। स्थानीय लोगों का कहना है कि कजली अपने पति से अलग होने के बाद उसकी याद में बहुत ही दुख भरे प्यार के गीत गाने लगी। कजली की आवाज बहुत मधुर थी,जिसकी वजह से जन-जन में वह प्रख्यात हो गई। कजली की मृत्यु के बाद मिर्जापुर निवासी उसकी याद में कजरी महोत्सव मनाने लगे। कजरी के बिना मिर्जापुर का इतिहास ही असंभव प्रतीत होता है।

प्राचीन कजरियों में शक्तिस्वरूपा देवी का ही गुणगान मिलता है और ऐसी परंपरा बन गई है कि किसी भी कजरी लोकगीत का प्रारम्भ देवी गीत से ही होगा। यह सावन का सबसे लोकप्रिय लोकगीत है और इतना ही नहीं यह अर्ध-शास्त्रीय गायन पर भी आधारित है। इसके गायन में बनारस घराने का खास दखल देखने को मिलता है। कजरी गीत में श्रृंगार रस की प्रधानता है,आइए इसकी कुछ पंक्तियों से रूबरू होते हैं-

"सखी आगे कदमिया बढ़ाए चला
साथ में लियाये चला ना......(2)
पूजे काशी विश्वनाथ, जे अनाथन के नाथ......(2)
सखी ओनहू के दरशन कराए चला
मन हरसाए चला ना"......(2)

एक ऐसा ही गीत हैः-

"कृष्ण जनम लिए जेल की कोठरिया में
रैन अंधियरिया में ना....(2)
जन्म लिये जब मुरारी, सो गये थे पहरेदार...(2)
ताले खुल गए जो लगे थे किवड़िया में
रैन अंधियरिया में ना"...(2)

मिर्जापुर अपने विहंगम और हृदयानंदित कर देने वाले नैसर्गिक वातावरण के लिए प्रसिद्ध है।

मिर्जापुर के प्राचीनतम स्थल

मिर्जापुर में एक नहीं अपितु अनेकों स्थान ऐसे हैं जिनकी धार्मिक मान्यता है। हमारे शहर में सबसे बड़ी धार्मिक मान्यता **मां विन्ध्यवासिनी मंदिर, विन्ध्याचल धाम** की है,जो जनमानस और उनकी आस्था से जुड़ा है। कालक्रम में यही विन्ध्याचल धाम हिंदुओं की धार्मिक आस्था का पौराणिक स्थल बन गया। मां विन्ध्यवासिनी दुर्गा मां का ही एक रूप हैं और यहां के निवासियों की कुलदेवी भी हैं। माता के धाम में लोग मुंडन संस्कार आदि शुभ संस्कारों के लिए दूर-दूर से आते हैं। ऐसी मान्यता है कि यदि नवविवाहित जोड़े माता के दर्शन करने नहीं आते हैं तो उन्हें सुखी वैवाहिक जीवन का आशीर्वाद नहीं मिलता है। इसलिए माता के दर्शन और उनका आशीर्वाद किसी भी शुभ कार्यक्रम के पहले और उसके बाद अति आवश्यक है। मां विन्ध्यवासिनी देवी की जितनी मान्यता दुर्गा अवतार के रूप में है उससे कहीं अधिक इनकी मान्यता **रक्षक देवी और हमारे**

पूर्वोत्तर जिले की क्षेत्र देवी के रूप में है। दुर्गा सप्तशती में वर्णन है कि राक्षस महिषासुर का वध करने के कारण ही **मां विन्ध्यवासिनी देवी महिषासुरमर्दिनी** के रूप में भी प्रसिद्ध हुई हैं। हिंदू मान्यता के अनुसार एक और खास बात है कि केवल विन्ध्यवासिनी देवी ही हैं जिन्हें शक्ति रूप में **वाम मार्ग** और **दक्षिण मार्ग** दोनों ही प्रकार से पूजा जाता है।

विन्ध्याचल देवी की मूर्ती का निर्माण काले पत्थर से किया गया है और वह शेर पर विराजमान हैं। लक्ष्मी स्वरूपा मां विन्ध्यवासिनी देवी को "विन्ध्याचल माई" के नाम से भी पुकारा जाता है। सिद्धि और जागृति प्राप्त करने के उद्देश्य से भक्तगण नौवरात्रि के दौरान दर्शन करने आते हैं। यहां पर अन्य पवित्र मंदिर, किले, सरोवर भी हैं जैसे कि माता अष्टभूजा का मंदिर, सीता कुंड, काली खोह, एकदन्त गणेश, ताड़केश्वर नाथ मंदिर, चुनार का किला, विंधम झरना आदि। यहां का प्राकृतिक सौन्दर्य और धार्मिक वातावरण अनेको पर्यटकों को आकर्षित करता है।

रामेश्वरम महादेव मंदिर

लोक मान्यताओं के अनुसार त्रेतायुग में रामगया घाट पर श्राद्ध करने के पश्चात् भगवान राम ने यहां पर शिवलिंग स्थापित किया था। इसे ही कालांतर में रामेश्वरम महादेव के नाम से जाना जाता है। और ऐसा भी बताया गया है कि मुगल शासक औरंगजेब ने इस मंदिर का विध्वंस भी करवा दिया था। परंतु इसके बाद भी भगवान के अवशेष स्वरूप पत्थरों से पुन: मंदिर का जीर्णोद्धार कराया गया।

बाबा बदेवरा नाथ धाम

बदेवरा नाथ मंदिर मिर्जापुर जिले के जिगना क्षेत्र के बदेवरा चौबे क्षेत्र में स्थित है। ऐसी मान्यता है कि इस प्राचीन मंदिर के हवन कुंड से प्राप्त भभूत से गठिया, बतास जैसे असाध्य रोगों से मुक्ति मिलती है। वैसे तो इस मंदिर में भक्तों का ताँता लगा रहता है, परन्तु श्रावण में इस मंदिर का महात्म्य और अधिक हो जाता है। यहां पर श्रद्धालु बड़ी संख्या में अपनी-अपनी मनोकामना के लिए दर्शन करने आते हैं। यह मंदिर प्राचीन मंदिरों में से एक है। बाबा बदेवरा नाथ मंदिर में छोटी-बड़ी हज़ारों घंटिया छत से झूलती नजर आती हैं। यहां का वातावरण सदैव ही शिवमय रहता है। इस मंदिर

में कोई भी मनोकामना हो सबकी पूरी होती है और इसलिए यह बहुत मान्यताप्राप्त मंदिर है।

चुनार का किला

चुनार के किले के वर्णन के बिना मिर्जापुर का इतिहास अधूरा है। ऐतिहासिक ज्ञान रखने वाले जानकार चुनार के किले को एक शक्ति प्रतीक के रूप में देखते हैं। चुनारगढ़ किला, यह वही किला है जिसकी कहानी का सबसे अधिक वर्णन **देवकी नन्दन खत्री** के उपन्यास **चन्द्रकान्ता** में भी मिलता है। इस किले को चन्द्रकान्ता चुनारगढ़ के नाम से भी जाना जाता है। हमारे मिर्जापुर शहर में चुनार किले के नाम से चुनार नगर भी बसा हुआ है। इतिहास में यह किला विभिन्न शासकों के नियंत्रण का गढ़ भी रहा है। इतिहास की विभिन्न पुस्तकों से प्राप्त जानकारी के अनुसार 56 ई. पू. का इतिहास समेटे हुए यह किला गंगा नदी के किनारे पर स्थित है। इसका इतिहास जितना पुराना है उतनी ही इससे जुड़ी कहानियां भी। ऐसी ही एक कहानी है **राजा बली** की।

कहा जाता है कि **भगवान वामन**, ब्राह्मण के वेश में राजा बली के समक्ष प्रकट हुए और उन्होंने राजा बली से तीन पग जमीन मांगी। राजा बली बहुत उदार थे और उन्होंने भगवान वामन को जमीन देना स्वीकार कर लिया। भगवान ने अपना पहला चरण इस पहाड़ की चोटी पर रखा जहां बाद में यह चुनार किला बना, जिसके कारण इस किले को **चरणदारी** भी कहा जाने लगा, जो कालांतर में चुनार नाम से प्रचलित हो गया। ऐसे ही एक दूसरी कहानी जुड़ी है उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के भाई भर्तहरि से, जिन्होंने सन्यासी का जीवन अपना लिया था और वे चुनार के किले में रहने लगे। जब विक्रमादित्य को बाबा गोरखनाथ से उन्हें अपने भाई के बारे में पता चला तो वे इस किले में आए और उन्होंने अपने भाई के रहने के लिए घर बनवाया।

तीसरी कहानी जुड़ी है राजा पृथ्वीराज से जिन्होंने न केवल यहां पर शासन किया है बल्कि इसके निकटवर्ती क्षेत्रों पर भी शासन किया। जानकारों का कहना है कि यह किला विभिन्न राजाओं की सत्ता का केन्द्र रहा है। इतिहास में वर्णित है कि जिसने चुनार किले पर शासन किया है उसने भारत के भाग्य पर भी नियंत्रण किया है। अपनी वास्तुकला और शैली के कारण भी चुनार किले का महत्व बढ़ जाता है। इसका निर्माण बलुआ पत्थर से किया गया था। किले का निर्माण सबसे पहले राजा सहदेव ने 1029 ई. में करवाया था।

यह स्थान है विभिन्न लोक कलाओं-गीतों का, धार्मिक मान्यताओं और विराट सांस्कृतिक पहचान का। मिर्जापुर में भारत की सम्पूर्ण छवि देखने को मिल जाती है। यहां पौराणिक, वैदिक संस्कृति के साथ-साथ, अंग्रेजी और मुगलिया संस्कृति भी देखने को मिलती है। यह शहर दिन-प्रतिदिन अपनी नई गाथा लिख रहा है और बेहतर सुविधाओं के साथ लोगों को आगे बढ़ने का अवसर भी दे रहा है। आशा है जब कभी आप यहां भ्रमण हेतु आएंगे तो केवल मधुर स्मृति ही नहीं अपितु अविस्मरणीय अनुभव, लोक-संस्कृति से ओत-प्रोत एवं अलौकिक दैवीय आशीर्वाद भी साथ लेकर लौटेंगे।

*****

राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय द्वारा संस्कृति मंत्रालय को राजभाषा हिंदी में उल्लेखनीय कार्य हेतु राजभाषा कीर्ति पुरस्कार 2023-24 प्रदान किया गया। संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय, श्री गुरमीत सिंह चावला पुरस्कार ग्रहण करते हुए।

भारत मंडपम, नई दिल्ली में 14 सितम्बर, 2024 को आयोजित हिंदी दिवस समारोह में संस्कृति मंत्रालय के अधीन राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन और राजभाषा प्रभाग, संस्कृति मंत्रालय के संयुक्त प्रयास से स्टॉल लगाया गया।

असम के मोइदम, अहोम राजवंश की टीला-दफ़न की व्यवस्था को यूनेस्को की विश्व धरोहर स्थल सूची की सांस्कृतिक श्रेणी में शामिल किया गया है। यह यूनेस्को की विश्व धरोहर स्थल सूची में शामिल होने वाला भारत का 43वाँ स्थल है। चराइदेव मोइदम असम में शासन करने वाले अहोम राजवंश के लोगों के नश्वर अवशेषों को दफनाने की प्रक्रिया थी। इन प्राचीन दफन टीलों का निर्माण 13वीं से 18वीं शताब्दी के दौरान अहोम राजाओं ने कराया था। घास के टीलों जैसे दिखने वाले चराईदेव मोइदम को असम का पिरामिड भी कहा जाता है और इसे अहोम समुदाय पवित्र मानता है।

सत्यमेव जयते

भारत सरकार

संस्कृति मंत्रालय